हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-सीरीजका १८ वाँ ग्रन्थ

बंकिम-निबन्धावली ।

बंग-साहित्य-सम्राट् स्वर्गीय बाबू बंकिमचन्द्र
चटर्जीके साहित्यिक, धार्मिक, सामाजिक
और मनोरंजक निबन्धोंका
हिन्दी अनुवाद ।

अनुवादकर्त्ता—

पंडित रूपनारायण पाण्डेय ।

प्रकाशक,

हिन्दी-ग्रन्थरत्नाकर-कार्यालय,
हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई ।

फाल्गुन सं० १९७५ ।

मार्च सन् १९१९ ।

द्वितीयावृत्ति ।] [मूल्य ॥।=)

सजिल्दका मूल्य सवा रुपया ।

विषयानुक्रमणिका ।

बंकिम-बाबूका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ।

चौबेका चिट्ठा।

इस ग्रन्थके पाठसे पाठकोंको बंकिम बाबूकी हास्यरसमयी अमृतस्यन्दिनी लेखनीका परिचय मिलेगा। यह उनके 'कमलाकान्तेर दफ्तर' का हिन्दी अनुवाद है। इसमें 'चिदानन्द चौबे' नामक विद्वान् भंग-भक्तके सब मिलाकर २० लेख और पत्र हैं। इनमें हँसी दिल्लगी और मनोरंजनके साथ ऊँचेसे ऊँचे विषयोंकी शिक्षा दी गई है। चौबेजी देशकी वर्तमान सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक बातोंकी बड़ी ही चुभती हुई और मर्मस्पर्शी आलोचना करते हैं, पुराने और नये दोनों प्रकारके शिक्षितोंको उनके वर्तावोंके विषयमें गहरी चुटकियाँ लेकर सचेत करते हैं, लेखकों, सम्पादकों, देशभक्तों, अँगरेजी सभ्यों और धर्मात्माओंकी ऐसी बातें सुनाते हैं कि सुनकर दंग हो जाना पड़ता है। कभी आप इसका पाठ करते करते रोने लगेंगे, कभी शोकसूचक साँसे लेने लगेंगे, कभी आनन्दसे उन्मत्त हो उठेंगे और कभी हँसते हँसते पेट पकड़ने लगेंगे। विनोद और विवेक दोनोंका इसमें विलक्षण संयोग है। इसकी रचना काव्यके सम्पूर्ण गुणोंसे परिपूर्ण है। तीसरा संस्करण शीघ्र प्रक शित होगा। मू० ।।।≠)

—बंकिम बाबूने बड़ी खूबीसे इसमें सामाजिक बुराइयाँ दिखाई हैं। कहीं कहीं हास्यरसका विलक्षण मिश्रण भी उन्होंने किया है। अनुवादक महाशयने मूलकी खूबियोंकी रक्षा योग्यतापूर्वक की है। भाषा सरल और शुद्ध है। पुस्तक बड़ी मनोरंजक है और साथ ही शिक्षादायक भी है। अच्छी छपी है।—**सरस्वती।**

—चौबेका चिट्ठा जैसा चित्ताकर्षक है वैसा ही उपयोगी भी है। इसमें सरलता और उपदेश दोनों हैं। पढ़नेसे देश और समाजविषयक अनुभव बढ़ता है। इसकी शिक्षायें अप्रत्यक्ष होकर भी बड़ी ही मर्मस्पर्शिनी हैं और यही इसकी महत्ता है। पुस्तक सर्वथा आदरणीय है। **—मैथिलीशरण गुप्त।**

—यह आनन्द देनेमें उपन्यासोंसे कम नहीं है। कहीं कहीं ऐसी गंभीर बातें लिखी हुई हैं जिन्हें पढ़कर बड़े बड़े विद्वान् चकित हो जाते हैं। यह अपनी वर्णनशैलीसे सबका चित्त हरण कर सकती है। कई बार पढ़ने पर भी पुस्तक नयी जैसी मनोहर मालूम पड़ती है। **—शिक्षा।**

यह हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर सीरीजका छठा ग्रन्थ है। सीरीजमें अब तक ३७ ग्रन्थ निकल चुके हैं। सूचीपत्र मँगाकर देखिए।

मैनेजर—हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग, पो० गिरगाँव—बम्बई।

बंकिम-निबन्धावली ।
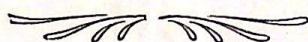
धर्म्म और साहित्य ।

मैं प्रचार (मासिकपत्र) का एक लेखक हूँ । यह जानकर 'प्रचार' के एक पाठकने मुझसे कहा—प्रचारमें इतने अधिक धर्मसम्बन्धी प्रबन्ध अच्छे नहीं लगते । जबतक दो-एक बातें हम लोगोंके काम की न हों तबतक जी नहीं लग सकता ।

मैंने कहा—क्यों, उपन्यासमें भी क्या तुम्हारा जी नहीं लगता ? उसकी तो प्रत्येक संख्यामें एक उपन्यास प्रकाशित होता है ।

उन्होंने कहा—केवल वही एक न ?

प्रचारके २४ पृष्ठ होते हैं । आठ पेजके लगभग उपन्यास होता है । वह भी पाठकोंके मनोविनोदके लिए काफी नहीं ! आठ–नौ पेजोंके बाद दो-एक पृष्ठ कविता भी निकल जाती है । एक कोनेमें एक दो धर्मसम्बन्धी लेख भी पड़े रहते हैं । तथापि इस पाठकके लिए उतनी धर्मचर्चा भी रुचि-कर नहीं है । शायद कुछ और पाठक भी ऐसे निकलेंगे, जिन्हें धर्मचर्चा कड़वी लगती है । इस प्रबन्धका उद्देश्य केवल इसी प्रश्नपर विचार करना है कि धर्मचर्चा क्यों कड़वी लगती है, और उपन्यास आमोद-प्रमोद क्यों इतने रुचते हैं ?

हमारी इच्छा यह है कि पाठकगण आप ही जरा सोचकर इन प्रश्नोंका उत्तर ठीक करें । स्वयं अपनी बुद्धिसे काम लेकर निश्चय करनेमें उनका जितना उपकार होगा उतना उपकार किसीकी शिक्षासे नहीं होसकता । इस विचारके काममें हम उन्हें सहायता अवश्य देंगे ।

यह अवश्य है कि साधारण धर्मशिक्षकोंके द्वारा पृथ्वी पर जिस रूपमें धर्मकी स्थापना हुई है वह प्रीतिकर नहीं है। इस देशके आधुनिक धर्माचार्य जिस हिन्दू धर्मकी व्याख्या और रक्षा करते हैं उसकी मूर्ति भयानक है। आजकलके अध्यापक और पुरोहित महाशयोंकी समझमें व्रत, प्रायश्चित्त, पृथ्वीके सब सुखोंके प्रति वैराग्य, और अपनेको पीडित करना ही धर्म है। गर्मियोंमें बहुत ही गर्मी और प्यासके मारे अगर थोड़ासा बर्फका पानी मैंने पी लिया तो मेरा धर्म नष्ट हो गया! ज्वर चढ़ा हुआ है, मैं पलँग पर पड़ा हुआ हूँ, कष्टके मारे दम निकला जा रहा है, डाक्टरने मेरे प्राणोंकी रक्षाके लिए अगर ओषधिके साथ चार पाँच बूँद ब्राण्डी दे दी तो बस मेरा धर्म नष्ट हो गया! आठ नव वर्षकी लड़की विधवा हो गई है; जिस ब्रह्मचर्यके बारेमें वह कुछ नहीं जानती और जिस ब्रह्मचर्यका पालन साठ वर्षकी बुढ़ियाके लिए भी कठिन है, उसी ब्रह्मचर्यके द्वारा पीड़ा पहुँचाकर उस बालिकाको रुलाये विना धर्मकी रक्षा नहीं हो सकती। धर्मोपार्जन करना हो तो पुरोहितका घर भरो, गुरुको दो, बेकार स्वार्थपर लोभी कुकर्मी भिक्षुक ब्राह्मणोंको दो। महाकष्टसे कमाया हुआ अपना धन कुपात्रों और अपात्रोंको दे डालो। यह मूर्ति धर्मकी मूर्ति नहीं है—यह एक उत्कट पैशाचिक कल्पना है। तथापि लड़कपनसे हम इसीका नाम धर्म सुनते आते हैं। पाठकोंका इससे पिशाच या राक्षसकी तरह डरना कुछ असंगत नहीं है।

जो लोग शिक्षित हैं, अर्थात् जिन्होंने अँगरेजी पढ़ी है, वे इसे तो धर्म नहीं मानते, किन्तु वे और एक आफतमें फँस गये हैं। उन्होंने अँगरेजीके साथ ईसाई धर्मको भी सीख लिया है। उस शिक्षाके लिए बाइबल नहीं पढ़नी पड़ती। विलायती साहित्य ही उस धर्मसे सराबोर है। हम लोग ईसाई धर्मको ग्रहण करें या न करें, धर्मका नाम सुनते ही उसी धर्मको समझते हैं। किन्तु उसकी और भी भयंकर मूर्ति है। परमेश्वरका नाम लेते ही उसी ईसाइयोंके परमेश्वरका स्मरण हो आता है। परंतु वह ईसाइयोंका परमेश्वर इस पवित्र नामके सर्वथा अयोग्य है। इसमें सन्देह नहीं कि वह विश्व-संसारका राजा है, लेकिन इसमें भी सन्देह नहीं कि कोई नर-पिशाच भी वैसा प्रजापीडक अत्याचारी और विचारशून्य नहीं हो

सकता। वह क्षणिक और अत्यन्त क्षुद्र अपराधके लिए मनुष्यको चिर-स्थायी दण्ड देता है। छोटे बड़े सभी पापोंके लिए अनन्त नरककी व्यवस्था करता। निष्पाप पुरुष भी, अगर वह ईसाई न हो तो उसके लिए अनन्त नरक-भोगका विधान है। जिसने कभी ईसाका नाम नहीं सुना, इसी कारण ईसाई होना जिसके लिए असम्भव है उसे भी उसी अपराधके लिए अनन्त नरक भोगना पड़ेगा। जो हिन्दूके घर पैदा हुआ है उसका हिन्दूके घर पैदा होनेमें कुछ भी दोष नहीं है। ईश्वरने उसे जहाँ भेजा वहीं वह आया। इसमें अगर कुछ दोष है तो वह ईश्वरका है। तथापि उस दोषके लिए उस गरीबको अनन्त नरक भोगना पड़ेगा। जो ईसाके पहले पैदा हुआ था और इसी कारण ईसाईधर्मको नहीं ग्रहण कर सका, उसे भी ईश्वरकृत जन्म-दोषके लिए अनन्त नरक भोगना पड़ेगा। इस ईसाइयोंके अत्याचारी परमेश्वरका एक काम यही है कि वह दिन-रात सब लोगोंके हृदयमें झाँक झाँक कर देखा करता है कि किसने कब क्या पाप-सङ्कल्प किया। जिसमें जरा भी पाप-संकल्प देख पाया उसके लिए उसी दम अनन्त नरककी व्यवस्था कर दी। जो लोग इस धर्मके चक्करमें पड़े हैं वे सदा उसी भारी विषादके भयसे सटपटाये रहते हैं और जीवन्मृत अव-स्थामें अपना जीवन बिताते हैं। पृथिवीका कोई भी सुख उनके लिए सुख नहीं है। ऐसी दशामें जिन लोगोंने इस धर्मको धर्म कहना सीखा है उन्हें धर्मके नामसे बुखार चढ़ आना सर्वथा संगत है।

साधारण धर्म-प्रचारकोंके इन दोषोंसे ही धर्मकी लालोचनासे सर्व साधा-रण लोग इतने विमुख देख पड़ते हैं—वे उस ओर अपनी ऐसी अरुचि दिखाते हैं। नहीं तो धर्मकी मूर्ति ऐसी मनोहर है कि सब छोड़कर धर्मकी अलोचनामें ही लोगोंको अधिक अनुराग होना चाहिए। मुझे विश्वास है कि जगतमें लोग धर्मको मनोहर और प्रिय ही समझते हैं। केवल यहाँके ही रुचिविकार-ग्रस्त पाठकोंमें यह बात नहीं पाई जाती। वे अगर विचार करके देखें तो उन्हें देख पड़ेगा कि हिन्दू और ईसाइयोंके दोषसे जो धर्मकी विकृत मूर्ति उन्होंने देखी है वह धर्म नहीं, अधर्म है। धर्मकी मूर्ति बहुत ही मनोहर है। ईश्वर प्रजाको पीड़ा नहीं पहुँचाता। वह

प्रजापालक है। अपने आत्माको पीड़ा पहुँचाना धर्म नहीं है। अपनी उन्नति करना, अपने आनन्दको बढ़ाना ही धर्म है। ईश्वरकी भक्ति, मनुष्यके प्रति प्रीति और हृदयमें शान्ति ही धर्म है। भक्ति, प्रीति और शान्ति—इन तीन शब्दोंसे जो मोहिनी मूर्त्ति बनती है जगतमें उससे बढ़कर मनोहर और क्या हो सकता है ? उसे छोड़कर और किस विषयकी आलोचना करनेको जी चाहेगा ?

जो लोग नाटक-उपन्यास पढ़ना बहुत पसन्द करते हैं उन्हें एक बार अपने मनमें विचार करके देखना चाहिए कि वे किस आकांक्षासे नाटक-उपन्यास पढ़ते हैं। यदि वे नाटक-उपन्यासोंकी विचित्र विस्मयजनक घटनाओंसे मनोविनोद करनेके लिए उन्हें पढ़ते हैं तो मैं उनसे पूछता हूँ कि विश्वेश्वरकी इस विश्वसृष्टिकी अपेक्षा अधिक विस्मयजनक घटना किस भाषाके साहित्यमें वर्णन की गई है ? एक तृण या एक मक्खीके परमें जितना विचित्र कौशल है उतना कौशल किस उपन्यास-लेखककी रचनामें पाया जाता है ? और इस श्रेणीके पाठकोंकी अपेक्षा और ऊँचे दर्जेके जो पाठक हैं—जो कविकी कल्पना-सृष्टिके लोभसे साहित्यके प्रति अनुरक्त हैं, उनसे मैं पूछता हूँ कि ईश्वरकी सृष्टिकी अपेक्षा किस कविकी सृष्टि सुन्दर है ? वास्तवमें यदि देखा जाय तो उस ईश्वरकी सृष्टिका अनुकरण होनेके कारण ही कविकी सृष्टि सुन्दर जान पड़ती है। नकल कभी असलकी बराबरी नहीं कर सकती। धर्मकी मोहिनी मूर्तिके आगे साहित्यका प्रभाव हीन पड़ जाता है।

पाठक कहेंगे कि "यह बात सत्य नहीं हो सकती। क्योंकि हमें उपन्यास-नाटक पढ़नेकी इच्छा होती है और पढ़कर हम आनन्द भी पाते हैं। धार्मिक प्रबन्ध पढ़नेकी इच्छा नहीं होती और आनन्द भी नहीं मिलता।" इसका उत्तर बहुत ही सहज है। तुमको साहित्य पढ़नेका अनुराग है और तुमको उसमें आनन्द भी मिलता है, सो इसका कारण यह है कि जिन वृत्तियोंका अनुशीलन करनेसे साहित्यका मर्म ग्रहण किया जाता है, तुम सदासे उन वृत्तियोंका अनुशीलन करते आते हो, इसी कारण उससे तुमको आनन्द मिलता है। जिन वृत्तियोंके अनुशीलनसे धर्मका मर्म ग्रहण

किया जाता है, तुमने उनका अनुशीलन नहीं किया। यही कारण है कि उनकी अलोचनामें तुमको आनन्द नहीं मिलता । लेकिन इस समय उनकी अलोचनाकी बड़ी जरूरत है। इसमें सन्देह नहीं कि साहित्यकी अलोचनामें सुख है, किन्तु जो सुख तुम्हारा उद्देश्य और प्राप्य होना उचित है उसका वह (साहित्यका सुख) एक क्षुद्र अंशमात्र है। साहित्य भी धर्मको छोड़कर नहीं है । क्योंकि साहित्यकी जड़ सत्य है और जो सत्य है वही धर्म है। यदि कोई ऐसा कुत्सित साहित्य हो जिसकी जड़ असत्य और अधर्म हो, तो उसे पढ़नेमें दुरात्मा और विकृतरुचि पाठकोंके सिवा और किसीको सुख नहीं मिल सकता। किन्तु साहित्यका सत्य और धर्म भी पूर्ण नहीं है; वह पूर्ण धर्मका एक अंशमात्र है। अतएव केवल साहित्य नहीं, किन्तु वह महान् तत्त्व धर्म, जिसका अंश साहित्यमें है, आलोचनाके योग्य है । साहित्यको मत छोड़ो, साहित्यकी सीढ़ीपर पैर रखकर धर्मके मञ्चपर चढ़ो ।

लेकिन यह भी स्मरण रहना चाहिए कि आरंभमें कुछ दुःख या कष्ट उठाये बिना कोई भी सुख नहीं प्राप्त होता। विलासी और पापी लोग जिस इन्द्रियतृप्तिको ही सुख समझते हैं उसकी भी सामग्री यत्न और कष्टसे प्राप्त होती है। धर्मालोचनाका जो असीम और अनिर्वचनीय आनन्द है उसके उपभोगके लिए प्रयोजनीय जो धर्ममन्दिरकी निचली सीढ़ीमें कठिन कर्कश पत्थर सदृश तत्त्व हैं उन्हें पहले अपने वशमें करो। अतएव आरंभमें धर्मविषयक लेख रूखे और कठिन जान पड़नेपर भी उनके प्रति अनादर करना उचित नहीं ।

गौरदास बाबाकी झोली।

(१)

रामदास बाबूकी भीख।

मैं बाबाजीका चेला और भीखकी झोलीका वर्तमान अधिकारी हूँ। बाबाजीका वैकुण्ठवास हो चुका है। उन्होंने भीखमें अनेक रत्न प्राप्त किये थे। मेरे सिवा और कोई उनका उत्तराधिकारी न होनेके कारण मुझे ही वे उन रत्नोंको दे गये हैं। मैं भी उन्हें खैरात करना चाहता हूँ। नमूना देखिए।

एकदिन मैं बाबाजीके साथ रामदास बाबूके घर भीख माँगने गया। हम दोनों गुरू—चेले 'राधेगोविन्द' कह कर दरवाजे पर खड़े हो गये। रामदास बाबूने व्यंग्य करके कहा—बाबाजी, हरिहरि भजो।

मैं अपने मनमें सोच रहा था कि इन बाबूको हरिनाम क्यों इतना प्यारा है! किन्तु इधर हरिप्रेममें गद्गद बाबाजी एकतारा बजाकर गाने लगे—

हरि भजत न क्यों नर मूढ़।
जन-तारन-कारन करुनामय माया काया गूढ़।

बाबूने दिल्लगी करके बाबाजीसे पूछा—तुम्हारे हरि कहाँ हैं बाबाजी? मैंने चाहा प्रह्लादकी तरह उत्तर दे दूँ कि 'इसी खंभेमें' और मन-ही-मन कहा कि प्रभु खंभेसे निकलकर इस दूसरे हिरण्यकशिपुका पेट फाड़ डालें और मैं नरसिंहके हाथसे नर-वानरका विनाश देखकर अपनी आँखें ठँडी करूँ। लेकिन मैं तो प्रह्लाद न था, इस लिए चुप रह गया। बाबाजीने नम्रभावसे उत्तर दिया—बाबा, मैं क्या जानूँ कि हरि कहाँ हैं? अगर जानता तो तुम्हारे पास क्यों आता? उन्हींके पास न जाता?

बाबू—तो भी क्या कहीं कोई जगह उनके रहनेकी नहीं है? हरिके क्या कोई लोक नहीं है?

बाबा—है क्यों नहीं? वे वैकुण्ठमें रहते हैं।

बाबू—वैकुण्ठ यहाँसे कितनी दूर है बाबाजी?

बाबा—तुमसे हमसे बहुत दूर है।

बाबू—तो फिर पास किसके है ?

बाबा—जिसके कुण्ठा नहीं है ।

बाबू—कुण्ठा क्या है ?

बाबा—समझा, कालेजके साहबोंने तुमसे मुफ्त ही रुपये ठग लिये । अगर वे ही रुपये मुझे दे देते तो अधिक उपकार होता, मैं हरिनाम सिखा देता । अब कोश खोलकर देखो ।

बाबू—घरमें कोश नहीं है, एक आदमी माँग ले गया है ।

बाबा—यह स्वीकार करनेमें तुम इतने कुंठित क्यों होते हो कि कोश तुम्हारे यहाँ था ही नहीं ।

बाबू—ओह–वह कुण्ठा ! कुण्ठा–कुण्ठित ! जहाँ कोई कुण्ठित नहीं होता वही वैकुण्ठ ?* क्या ऐसी जगह भी कहीं है ?

बाबा—बाहर नहीं है, भीतर है ।

बाबू—भीतर—किसके भीतर ?

बाबा—मनके भीतर । जब तुम्हारा मन जगत्में किसीतरह कुण्ठित न होगा—जब चित्त शुद्ध होगा, इन्द्रियाँ वशमें होंगी, ईश्वरमें भक्ति, मनुष्योंके प्रति प्रीति और हृदयमें शान्ति उपस्थित होगी, जब सर्वत्र वैराग्य और सर्वत्र सुखका अनुभव होगा, तब तुम पृथ्वीमें रहो या न रहो, संसारमें रहो या न रहो, समझना कि वैकुण्ठमें पहुँच गये ।

बाबू—तो वैकुण्ठ कोई शहर नहीं, केवल मनकी अवस्थामात्र है और विष्णु वहीं रहते हैं ?

बाबा—हाँ, कुण्ठारहित निर्विकार चित्तमें ही वे रहते हैं । विरक्तका हृदय उनके रहनेका स्थान है, इसीसे वे वैकुण्ठ हैं ।

बाबू—किन्तु यह क्या ! वे तो शरीरधारी हैं । शरीरधारीके लिए रहनेको कोई घरबार होना चाहिए ।

---

* मालूम नहीं, व्याकरणमें बाबाकी कितनी गति थी । वैकुण्ठ भी विष्णुका एक नाम है । पण्डितलोग वैकुण्ठ शब्दकी व्युत्पत्ति करते हैं–विविधा कुण्ठा-माया यस्य स वैकुण्ठः । लेकिन बाबाजीका अर्थ भी शास्त्रसम्मत है ।

गौरदास बाबाकी झोली।

(१)

रामदास बाबूकी भीख।

मैं बाबाजीका चेला और भीखकी झोलीका वर्तमान अधिकारी हूँ। बाबाजीका वैकुण्ठवास हो चुका है। उन्होंने भीखमें अनेक रत्न प्राप्त किये थे। मेरे सिवा और कोई उनका उत्तराधिकारी न होनेके कारण मुझे ही वे उन रत्नोंको दे गये हैं। मैं भी उन्हें खैरात करना चाहता हूँ। नमूना देखिए।

एकदिन मैं बाबाजीके साथ रामदास बाबूके घर भीख माँगने गया। हम दोनों गुरू-चेले 'राधेगोविन्द' कह कर दरवाजे पर खड़े हो गये। रामदास बाबूने व्यंग्य करके कहा—बाबाजी, हरिहरि भजो।

मैं अपने मनमें सोच रहा था कि इन बाबूको हरिनाम क्यों इतना प्यारा है! किन्तु इधर हरिप्रेममें गद्गद बाबाजी एकतारा बजाकर गाने लगे—

हरि भजत न क्यों नर मूढ़।
जन-तारन-कारन करुनामय माया काया गूढ़।

बाबूने दिल्लगी करके बाबाजीसे पूछा—तुम्हारे हरि कहाँ हैं बाबाजी? मैंने चाहा प्रह्लादकी तरह उत्तर दे दूँ कि 'इसी खंभेमें' और मन-ही-मन कहा कि प्रभु खंभेसे निकलकर इस दूसरे हिरण्यकशिपुका पेट फाड़ डालें और मैं नरसिंहके हाथसे नर-वानरका विनाश देखकर अपनी आँखें ठँडी करूँ। लेकिन मैं तो प्रह्लाद न था, इस लिए चुप रह गया। बाबाजीने नम्रभावसे उत्तर दिया—बाबा, मैं क्या जानूँ कि हरि कहाँ हैं? अगर जानता तो तुम्हारे पास क्यों आता? उन्हींके पास न जाता?

बाबू—तो भी क्या कहीं कोई जगह उनके रहनेकी नहीं है? हरिके क्या कोई लोक नहीं है?

बाबा—है क्यों नहीं? वे वैकुण्ठमें रहते हैं।

बाबू—वैकुण्ठ यहाँसे कितनी दूर है बाबाजी?

बाबा—तुमसे हमसे बहुत दूर है।

बाबू—तो फिर पास किसके है ?

बाबा—जिसके कुण्ठा नहीं है।

बाबू—कुण्ठा क्या है ?

बाबा—समझा, कालेजके साहबोंने तुमसे मुफ्त ही रुपये ठग लिये। अगर वे ही रुपये मुझे दे देते तो अधिक उपकार होता, मैं हरिनाम सिखा देता। अब कोश खोलकर देखो।

बाबू—घरमें कोश नहीं है, एक आदमी माँग ले गया है।

बाबा—यह स्वीकार करनेमें तुम इतने कुंठित क्यों होते हो कि कोश तुम्हारे यहाँ था ही नहीं।

बाबू—ओह-वह कुण्ठा ! कुण्ठा-कुण्ठित ! जहाँ कोई कुण्ठित नहीं होता वही वैकुण्ठ ? * क्या ऐसी जगह भी कहीं है ?

बाबा—बाहर नहीं है, भीतर है।

बाबू—भीतर—किसके भीतर ?

बाबा—मनके भीतर। जब तुम्हारा मन जगतमें किसीतरह कुण्ठित न होगा—जब चित्त शुद्ध होगा, इन्द्रियाँ वशमें होंगी, ईश्वरमें भक्ति, मनुष्योंके प्रति प्रीति और हृदयमें शान्ति उपस्थित होगी, जब सर्वत्र वैराग्य और सर्वत्र सुखका अनुभव होगा, तब तुम पृथ्वीमें रहो या न रहो, संसारमें रहो या न रहो, समझना कि वैकुण्ठमें पहुँच गये।

बाबू—तो वैकुण्ठ कोई शहर नहीं, केवल मनकी अवस्थामात्र है और विष्णु वहीं रहते हैं ?

बाबा—हाँ, कुण्ठारहित निर्विकार चित्तमें ही वे रहते हैं। विरक्तका हृदय उनके रहनेका स्थान है, इसीसे वे वैकुण्ठ हैं।

बाबू—किन्तु यह क्या ! वे तो शरीरधारी हैं। शरीरधारीके लिए रहनेको कोई घरबार होना चाहिए।

---

* मालूम नहीं, व्याकरणमें बाबाकी कितनी गति थी। वैकुण्ठ भी विष्णुका एक नाम है। पण्डितलोग वैकुण्ठ शब्दकी व्युत्पत्ति करते हैं—विविधा कुण्ठा माया यस्य स वैकुण्ठः। लेकिन बाबाजीका अर्थ भी शास्त्रसम्मत है।

बाबा—अच्छा, बताओ उनका शरीर कैसा है।

बाबू—तुम लोग ही उनको चतुर्भुज कहते हो।

बाबा—ठीक है, उनको चतुर्भुज कहते हैं। उनकी चारों भुजाओंमें क्या क्या चीजें हैं?

बाबू—शंख, चक्र, गदा और पद्म।

बाबा—एक एक करके समझो। पहले पद्मको लो। किन्तु उसके पहले यह देखो कि ईश्वर करते क्या हैं?

बाबू—क्या करते हैं?

बाबा—सृष्टि, स्थिति, प्रलय। सृष्टिके सम्बन्धमें दो मत हैं। एक मत यह है कि आदिमें जगतका कुछ उपादान भी न था। ईश्वरने पहले उपादान (पञ्चतत्त्व) उत्पन्न करके फिर उससे सृष्टिरचना की है। और एक मत यह है कि जगतके उपादान नित्य हैं। ईश्वर हरएक कल्पमें उनसे सृष्टिरचना करते हैं। इस दूसरे प्रकारकी सृष्टिकी शक्ति जगतके केन्द्रमें है। सुना है कि साहबलोगोंका भी शायद इसी तरहका एक मत है *। सृष्टिका मूलस्वरूप यह जगत्-केन्द्र ही हिन्दुओंके शास्त्रोंमें नारायणकी नाभिका कमल कहा गया है। अतएव विष्णुके हाथका पद्म सृष्टिक्रियाकी प्रतिमा है।

बाबू—अच्छा, और तीनों चीजें?

बाबा—गदा प्रलयक्रियाकी प्रतिमा है। शंख और चक्र दोनों स्थितिक्रियाकी प्रतिमा है। जगतकी स्थिति स्थान और कालमें है। स्थान है आकाश। आकाश शब्दवाही और शब्दमय है। इसीसे शब्दमय शंख आकाशकी प्रतिमाके रूपसे विष्णुके हाथमें स्थापित किया गया है।

बाबू—और चक्र?

बाबा—वह काल-चक्र है। कल्प युग मन्वन्तर आदिके फेरसे काल घूमा करता है। इसी कारण कालको चक्ररूपसे ईश्वरके हाथमें स्थान मिला है। जगदीश्वर अपनी चार भुजाओंमें आकाश, काल, शक्ति और सृष्टिको धारण किये हुए हैं। अब समझे कि विष्णुके शरीर नहीं है। विष्णु वैकु-

---

* La Placiau hypothesis.

ण्ठके ईश्वर हैं, इसका तात्पर्य यह है कि कुण्ठाशून्य निर्भय विरक्त पुरुष हरवड़ी हृदयमें स्रष्टा–पाता–हर्त्ता रूपसे ईश्वरका ध्यान करते हैं।

बाबू—तो फिर बस इतना कह देना ही काफी था। इस बातको तो सभी स्वीकार करते हैं। यह रूपक रचनेकी क्या जरूरत थी ?

बाबा—यह भी तो सब स्वीकार करते हैं कि कलकत्ता अँगरेजोंकी राजधानी है, तो फिर किले पर अँगरेजी झंडा खड़ा करनेकी क्या जरूरत है ? पृथ्वीपर सभी कामोंमें इस तरहकी कल्पना देखी जाती है। फिर मुझ ऐसे मूर्खके भक्तिके मार्गमें यों काँटे रूँधनेकी चेष्टा क्यों करते हो भैया ?

बाबू—अच्छा यदि सचमुच विष्णुके शरीर नहीं है तो फिर श्याम वर्ण किसका है ? जिसके शरीर ही नहीं उसके रंग कैसा ?

बाबा—आकाशका भी तो श्यामवर्ण देखा जाता है, किन्तु क्या आकाशके शरीर है ? अच्छा तुम्हारा अँगरेजी शास्त्र क्या कहता है ? जगत् अन्धकारमय है या प्रकाशमय ?

बाबू—जगत् अन्धकारमय है।

बाबा—इसीसे विश्वरूप विष्णुका रंग श्याम है।

बाबू—किन्तु जगतमें सूर्योदय भी तो होता है—प्रकाश भी तो है।

बाबा—विष्णुके हृदयमें कौस्तुभमणि है। कौस्तुभ—सूर्य है, और वनमाला—ग्रह नक्षत्र आदि।

बाबू—अच्छा तो क्या यह जगत् ही विष्णु है ?

बाबा—नहीं, जो जगतमें सर्वत्र व्याप्त हैं वे ही विष्णु हैं। जगत् शरीर है और वे आत्मा हैं।

बाबू—अच्छा, अशरीरी परमेश्वरके दो स्त्रियाँ क्यों हैं ?—लक्ष्मी, और सरस्वती।

बाबा—कोश खरीदकर देखो। लक्ष्मीका अर्थ है शोभा या सौन्दर्य। रमा आदि लक्ष्मीके और और नामोंका भी यही अर्थ है। सरस्वतीका अर्थ है ज्ञान। विष्णु सत् हैं, सरस्वती चित् हैं और लक्ष्मी आनन्द हैं। इसीसे अरे मूर्ख ! सच्चिदानन्द परब्रह्मको प्रणाम कर।

बाप रे बाप ! बाबूको उनके ही घरमें 'अरे मूर्ख !' कहना । बाबूने उसी समय दरबानको हुक्म दिया—'मार बदजातको !'

बाबाजीकी झोली पकड़कर मैं उन्हें बाहर घसीट लाया । बाहर आकर मैंने बाबाजीसे कहा—बाबाजी, आज भिक्षामें क्या पाया ?

बाबाजीने कहा—बदपूर्वक जन धातुके आगे क्ति प्रत्यय लानेसे जो रूप बनता है वही पाया । इसे भीखकी झोलीमें डाल रक्खो ।

—श्रीहरिदास वैरागी ।

---

(२)

अष्टमीकी भीख ।

आश्विन शुक्ल अष्टमीकी दुर्गापूजाके दिन बाबाजी नहीं देख पड़े । यह संभव है कि वे किसी दुर्गामन्दिरमें हरिभजन कर रहे हों । यह भी असम्भव नहीं है कि उस अमूल्य अमृतमय नामके बदले पेड़ा—बरफी आदि मिट्टीके ढेले ले लेकर वैष्णवोंकी उदारता और महिमाका प्रमाण दे रहे हों । मुट्ठीभर आटेके बदलेमें जो हरिनाम सुनाता है उससे बढ़कर दाता और कौन होगा ? मन-ही-मन इन्हीं सब बातोंकी विशेष-रूपसे आलोचना करता हुआ मैं पूज्यपाद गौरदासबाबाका पता लगाने निकला । जिन सब घरोंमें दुर्गापूजाकी धूम थी, और दरवाजोंपर झुंडके झुंड भिक्षुक खड़े थे उन सभी घरोंमें ढूँढ़ा, पर वह सफेद दाढ़ीका झंडा फहराते कहीं न देख पड़ा । ढूँढ़ते ढूँढ़ते एक घरमें जाकर देखा, बाबाजी भोजन करने बैठे हैं ।

देखकर मुझे विशेष प्रसन्नता नहीं हुई । वैष्णव होकर शक्तिका प्रसाद भोजन करना मुझे अच्छा न लगा । पास जाकर मैंने बाबाजीसे कहा—स्वामी, जान पड़ता है कि भूखसे धर्मकी उदारता भी बढ़ जाती है ?

बाबाजीने कहा—तब तो फिर चोरका धर्म बड़ा ही उदार मानना पड़ेगा । भैया ऐसी बातें क्यों कर रहे हो ?

मैं—वैष्णवको क्या शक्तिका प्रसाद खाना चाहिए ?

बाबाजी—दोष क्या है ?

मैं—हम लोग कृष्णके उपासक हैं। शक्तिका प्रसाद क्यों खायँ ?

बाबाजी—तुम यह जानते हो कि शक्ति क्या है ?

मैं—देवताकी शक्ति देवताकी स्त्रीको कहते हैं। जैसे नारायणकी शक्ति लक्ष्मी, शिवकी शक्ति दुर्गा, ब्रह्माकी शक्ति ब्रह्माणी, इसी तरह।

बाबाजी—दूर हो पापी! उठ जा! तेरा मुँह देखकर भोजन करनेसे पाप लगता है। देवता क्या तेरी तरह वैष्णवी रखकर घर गिरिस्ती करते हैं ? दूर हो।

मैं—तो फिर शक्ति क्या है ?

बाबाजी—अच्छा, यह जलका कलसा उठा।

मैंने पानीका कलसा उठा लिया।

बाबाजीने एक जलकी बूँद गिराकर कहा—इसे तो उठा।

मैं—यह भी कहीं हो सकता है ?

बाबाजी—तुममें पानीका घड़ा उठानेकी शक्ति है, पर बूँद उठानेकी शक्ति नहीं है। रोटी खा सकते हो ?

मैं—क्यों नहीं खा सकता ? रोज ही खाता हूँ।

बाबाजी—अच्छा, इस जलती हुई लकड़ीको खा सकते हो ?

मैं—जलती लकड़ी भी कहीं खाई जा सकती है ?

बाबाजी—तुममें रोटी खानेकी शक्ति है, पर जलती लकड़ी खानेकी शक्ति नहीं है। अब समझे कि देवताकी शक्ति क्या है ?

मैं—नहीं।

बाबाजी—देवता अपनी क्षमताके द्वारा अपने करनेके कामको पूरा करते हैं। उसी क्षमताका नाम शक्ति है। अग्निमें जलानेकी क्षमता ही उसकी शक्ति है, उसका नाम स्वाहा है। इन्द्र वर्षा करते हैं, वर्षा करनेकी शक्तिका नाम इन्द्राणी है। रुद्र संहार करते हैं, उनकी संहारशक्तिका नाम रुद्राणी है।

मैं—यह सब आप क्या कह रहे हैं ? जिस शक्तिसे मैं घड़ा उठाता हूँ या रोटी खाता हूँ वह तो मुझे साक्षात् नहीं देख पड़ती। वह मेरी शक्ति

तो दुर्गादेवीकी तरह कपड़े लत्ते पहन कर सजधजकर मेरे पास नहीं बैठती। मेरी वैष्णवी ऐसा करती है, इसीसे मैं उसे अपनी शक्ति कह सकता हूँ।

बाबाजी—मूर्ख लोग ऐसा ही समझते हैं। तुम शरीरधारी हो, तुम्हारी शक्ति तुम्हारे शरीरमें है उसके सिवा और कोई तुम्हारी शक्ति नहीं हो सकती।

मैं—तो देवता लोग क्या हैं? शरीरधारी हैं? तो फिर क्या उनकी शक्ति भी निराकार होगी?

बाबाजी—शरीरधारी और शरीररहित, दोनोंकी शक्ति निराकार ही होती है। किन्तु एक एक करके समझो। पहले यह समझो कि इन्द्रादि सभी देवता शरीरधारी नहीं हैं।

मैं—यह क्या? इन्द्रके अगर शरीर नहीं है तो स्वर्गके सिंहासन पर बैठकर अप्सराओंका नाच-गाना कौन देखता सुनता है?

बाबाजी—यह सब रूपक है। इसका गूढ अर्थ और किसीदिन समझाऊँगा। इस समय यह समझो कि जिससे वर्षा होती है वही इन्द्र है। जो जलाता है वही अग्नि है। जिससे जीव या वस्तुका ध्वंस होता है वही रुद्र है।।

मैं—मैं नहीं समझा। कोई रोगसे मरता है, कोई डूबकर मरता है, कोई जल कर मरता है, कोई गिरकर मरता है, कोई कटकर मरता ह। कोई जीव किसीको खाजाता है, कोई जीव किसीको मार डालता है। कोई वस्तु गल गलकर ध्वंसको प्राप्त होती है, कोई वस्तु सूखकर नष्ट होती है। इनमें कौन रुद्र है?

बाबाजी—सबका जो समष्टि भाव है, अर्थात् सबको एकत्र सोचनेसे जो समझमें आता है वही रुद्र है।

मैं—तो फिर रुद्र एक हैं या अनेक?

बाबाजी—एक हैं। जैसे इस कलसेमें जो जल है, इस बूँदमें जो जल है, और गंगामें जो जल है, सो सब एक ही जल है वैसे ही जहाँ जो ध्वंसका कारण है वही रुद्र है।

मैं—रुद्रके शरीर नहीं है?

बाबाजी—वही तो कह रहा हूँ।

मैं—तो फिर महादेवकी मूर्ति बनाकर उनकी उपासना क्यों करते हैं ? वह क्या उनका रूप नहीं है ?

बाबाजी—उपासनाके लिए जिसकी उपसना करो उसका एक रूप होना चाहिए। नहीं तो उपासनामें मन नहीं लगता। तुम उस निराकार विश्व-व्यापी रुद्रके स्वरूपका ध्यान कर सकते हो ?

मैंने चेष्टा की, पर वैसा हो न सका। तब बाबाजीकी बात स्वीकार करनी ही पड़ी।

बाबाजीने कहा—जिन्होंने उस तरह ध्यान करना सीख लिया है वे कर सकते हैं। किन्तु उसके लिए ज्ञानका प्रयोजन है। पर जिसके ज्ञान नहीं है वह क्या उपासना करे ही नहीं ? ऐसा तो उचित नहीं है। जिसके ज्ञान नहीं है वह जिस रूपसे रुद्रकी चिन्ता कर सकता है उसी रूपसे रुद्रकी उपासना करेगा। ऐसी अवस्थामें रूपकी कल्पना करके ध्यान करना सहज उपाय है। तुम यदि ऐसी एक रूपकी कल्पना करो कि वह संहारक्रियाका आदर्श समझा जाय तो वह रुद्रहीकी मूर्ति है। इसीसे रुद्रके काल-भैरव रूपकी कल्पना की गई है। नहीं तो रुद्रके कोई रूप नहीं है।

मैं—यह तो समझा। किन्तु जैसे मेरी शक्ति मुझमें ही है वैसे ही रुद्रकी शक्ति रुद्राणी भी रुद्रमें ही है। तब शिव और दुर्गाकी अलग अलग मूर्ति बनाकर क्यों पूजते हैं ?

बाबाजी—तुम्हारा ध्यान करनेसे ही तुम्हारी शक्तिका ज्ञान नहीं हो सकता। जिसने आगमें कभी हाथ नहीं डाला वह आगको देखते ही यह नहीं समझ सकता कि आगमें हाथ जल जायगा। अतएव शक्ति और शक्तिशालीकी अलग अलग आलोचना किये बिना शक्तिको समझना संभव नहीं। रुद्र भी निराकार हैं और रुद्रकी शक्ति भी निराकार है। जो ज्ञानी नहीं है और इसीकारण निराकारके स्वरूपका ध्यान करनेमें असमर्थ है, उसे उपासनाके लिए शक्ति और देवताके अलग अलग रूपोंकी कल्पना करनी पड़ती है।

मैं—किन्तु वैष्णव लोग विष्णुकी ही उपासना करते हैं, रुद्रकी उपासना नहीं करते। इस कारण रुद्राणीका प्रसाद खाना आपके लिए सर्वथा अनुचित है।

बाबाजी—विष्णुने पेट देकर मुझे ऐसी आज्ञा नहीं दी है कि रुद्राणी-के प्रसादसे उसे न भरूँ। किन्तु वह बात जाने दो, वास्तवमें रुद्राणी विष्णु-की ही शक्ति है।

मैं—यह क्या ? रुद्राणी तो रुद्रकी शक्ति है।

बाबाजी—विष्णु ही रुद्र हैं।

मैं—आपकी ये बातें मानने योग्य नहीं जान पड़तीं। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ये तीनों देवता अलग अलग हैं। एक सृष्टि, दूसरे पालन और तीसरे प्रलय करते हैं। फिर विष्णु रुद्र कैसे हो सकते हैं ?

बाबाजी—जिन रईसके घर बैठा हुआ मैं भोजन कर रहा हूँ वह क्या करते हैं, जानते हो ?

मैं—जानता हूँ, जमींदारी करते हैं।

बाबाजी—और कुछ नहीं करते ?

मैं—कपड़ेकी दूकान भी करते हैं।

बाबाजी—और भी कुछ करते हैं ?

मैं—रुपया देकर व्याज खाते हैं।

बाबाजी—अच्छा। अब अगर मैं बाहर जाकर किसीसे कहूँ कि मैं जमींदारके यहाँ भोजन कर आया हूँ, किसीसे कहूँ कि मैं एक कपड़ेके सौदागरके यहाँ खा आया हूँ, और किसीसे कहूँ कि मैं एक महाजनके घरमें अपना पेट भर आया हूँ तो वह तीन आदमियोंके सम्बन्धकी बात होगी या एक आदमीकी ?

मैं—एक ही आदमीकी। क्योंकि एक ही आदमी तीनों पेशे करने-वाला है।

बाबाजी—वैसे ही ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर तीनों एक हैं। एक ही ईश्वर सृष्टि, पालन और संहार करता है। हिन्दूधर्ममें एक ईश्वरके सिवा तीन ईश्वर कभी नहीं हो सकते।

मैं—तो फिर तीनों रूपोंकी अलग अलग उपासना क्यों की जाती है ?

बाबाजी—तुम अगर इन रईसको विशेष रूपसे जानना चाहो तो तुम्हें इनके सब कामोंको अलग अलग समझना पड़ेगा। ये जमींदारके रूपमें किस तरह जमींदारी करते हैं, सौदागरके रूपमें किस तरह सौदागरी करते हैं,

और महाजनके रूपमें किस तरह महाजनी करते हैं। वैसे ही ईश्वरकी उपासनामें ईश्वरके सृष्टि-स्थिति-प्रलय कार्योंको अलग समझना पड़ता है। इसीसे हमारे यहाँ त्रिदेवकी उपासना प्रचलित है। अलग अलग कार्यके अनुसार एकहीके अलग अलग तीन नाम रख लिये गये हैं। तीनों नाम अलग अलग तीन आदमियोंके नहीं हैं।

मैं—यह तो मैं समझ गया, लेकिन गड़बड़ी फिर भी नहीं मिटी। वर्षा हुई और उससे अन्न पैदा हुआ, उसे खाकर सब जिये। तो बचाया किसने ? पालनकर्त्ता विष्णुने या बरसानेवाले इन्द्रने ?

बाबाजी—जो मैं कह चुका हूँ उसे अगर तुम समझ गये हो तो तुमको यह बतलानेकी कोई जरूरत नहीं है कि इन्द्र, वायु, वरुण आदि कोई जुदा देवता नहीं हैं। जो सृष्टि करता है वही जैसे पालन करता है वैसे ही संहार भी करता है। वे ही जलानेवाले अग्नि, बरसानेवाले इन्द्र, आँधी चलानेवाले पवन और प्रकाश करनेवाले सूर्य हैं। जो ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर हैं, वे ही इन्द्र, वे ही अग्नि और वे ही सब देवता हैं। किन्तु जैसे हम लोग समझनेकी सुगमताके लिए एक ही जलको कहीं नदी, कहीं समुद्र, कहीं झील, कहीं तालाब, कहीं गढ़ा और कहीं कुआँ कहते हैं वैसे ही उपासनाकी सुगमताके लिए एक ही परमेश्वरको कहीं इन्द्र, कहीं अग्नि, कहीं ब्रह्मा और कहीं विष्णु कहते हैं।

मैं—तो उनका यथार्थ नाम क्या है ?

बाबाजी—दो प्रकारसे उनकी उपासना होती है। जब उनको अव्यक्त, अचिन्त्य, निर्गुण और सब जगतका आधार मानकर उनकी उपासना करते हैं तब उन्हें ब्रह्म, परब्रह्म या परमात्मा कहते हैं। और, जब उनको व्यक्त, उपास्य और इसी कारण चिन्तनीय, सगुण और सब जगतकी सृष्टि–स्थिति-संहारका कारण मानकर उनकी उपासना करते हैं तब उन्हें बातचीतमें ईश्वर, वेदमें प्रजापति और पुराण-इतिहासोंमें विष्णु और शिव कहते हैं। जब एक साथ उनके दोनों रूपोंका ध्यान या उपासना कर सकते हैं—अर्थात् हमारे हृदयमें जब दोनोंरूप भासित होने लगते हैं—तब उनको श्रीकृष्ण कहते हैं।

मैं—क्यों, तभी श्रीकृष्ण क्यों कहते हैं ?

बाबाजी—गीतामें श्रीकृष्णजीने अपनेको इन दोनों रूपोंसे ध्येय बतलाया है। मैं उनका दासानुदास हूँ, इस कारण उनको मैं इसी नामसे पुकारता हूँ। एकबार बोलो जय श्रीकृष्णचन्द्रकी । बोलो–कृष्ण—कृष्ण हरे हरे !

मैं—बाबाजी, इतना कृष्णभजन क्यों कर रहे हो ? यह तो बतलाओ कि 'अहिंसा' वैष्णवोंका धर्म है या नहीं ?

बाबाजी—अहिंसा वैष्णव-कन्या अवश्य है, किन्तु वह कुल त्यागकर बौद्धोंके घर चली गई है, इसीसे वह जातिभ्रष्ट हो गई है।

मैं—मैं आपकी यह पहेली नहीं समझ सका।

बाबाजी—देख भैया, वैष्णव बननेके पहले यह समझ लेना चाहिए कि वैष्णव-धर्म क्या है ? कंठी बाँधनेसे, तुलसीकी माला पहननेसे, छाप लगानेसे, निरामिष भोजन करनेसे, पञ्च संस्कारसे या वैष्णवी रखनेसे कोई वैष्णव नहीं कहा जासकता। अच्छा बतला तो सही, जगतमें सबसे श्रेष्ठ वैष्णव कौन हुआ है ?

मैं—नारद, ध्रुव, प्रह्लाद।

बाबाजी—प्रह्लाद ही सबमें श्रेष्ठ है। सुन, प्रह्लादने वैष्णवधर्मकी क्या व्याख्या की है—

सर्वत्र दैत्याः समतामुपेत्य समत्वमाराधनमच्युतस्य।

अर्थात् हे दैत्यगण ! तुम सर्वत्र समदर्शी बनो। समत्व अर्थात् सबको अपने समान जानना ही विष्णुकी आराधना है। कंठी,–तिलक, माला,–छाप क्या दिखाता है रे मूर्ख ! यह समदर्शी भाव ही अहिंसाधर्मका यथार्थ तात्पर्य है। समदर्शी होनेपर हिंसा रह नहीं सकती। यों समदर्शी होनेपर विष्णुका नाम न जानने पर भी मनुष्य वैष्णव होसकता है। जो ईसाई या मुसलमान मनुष्यमात्रको अपने समान समझता है वह चाहे ईसाकी पूजा करे और चाहे पीर–पैगम्बरको माने, वही सच्चा वैष्णव है। और, तुम्हारे कंठी-तिलकवाले दलमें जो समदर्शी नहीं हुआ, वह वैष्णव भी वैष्णव नहीं है।

मैं—तो क्या मुसलमानके घर खाना भी खा लेना चाहिए ?

बाबाजी—इस कानसे सुनता है और उस कानसे निकाल देता है ? जब सबको समदृष्टिसे देखते हैं, सबको अपने समान समझना ही वैष्णव धर्म है, तब हिन्दू-मुसलमान और छोटी-बड़ी जातिका भेद-भाव रखना भी उचित नहीं । जिसमें यह भेद-भाव है वह वैष्णव नहीं। आज तुझको कुछ वैष्णव धर्म समझाया है। अब किसी दिन ब्रह्मकी उपासना और कृष्णकी उपासना समझाऊँगा । धर्मकी पहली सीढ़ी बहुत देवतोंकी उपासना है। दूसरी सीढ़ी सकाम ईश्वरोपासना है । तीसरी सीढ़ी निष्काम ईश्वरोपासना या वैष्णवधर्म अथवा ज्ञानयुक्त ब्रह्मोपासना है । चरमधर्म श्रीकृष्णकी उपासना है।

—श्रीहरिदास वैरागी।

---

(३)

राधा-कृष्ण ।

मैं एक पुराने गीतको धीरे गुनगुना रहा था।—" ब्रज तजिके जनि जाहु नाथ। " यह सुनते ही 'आहा!' कहकर बाबाजी रोने लगे। मुझसे रहा न गया, मैं हँस पड़ा । बाबाजीने खड़े होकर कहा—हँसता क्या है रे मूर्ख !

मैं—तुम जराजरासी बातपर रोने लगते हो, इसीसे मैं हँस रहा हूँ।

बाबाजी—तू जिसे जरासी बात कहता है, उसे कुछ समझा भी ? या तोतेकी तरह खाली रट ही रहा है।

मैं—समझा क्यों नहीं ? राधा कृष्णसे कह रही हैं—" तुम ब्रजको छोड़कर न जाना स्वामी। "

बाबाजी—ब्रज क्या है ?

मैं—कृष्ण जहाँ गायें चराते और गोपियोंके बीचमें बंसी बजाते थे।

बाबाजी—चल मूर्ख ! व्रज धातु किस अर्थमें है ?

सुविधा हुई है। 'कृप' धातु कर्षण या आकर्षण अर्थमें है। जो मनुष्यके चित्तको अपनी ओर खींचे वही कृष्ण है।

मैं—बाबाजी, यह तो कष्ट-कल्पना है।

बाबाजी—सो तो है ही। कृष्ण स्वयं रूपक नहीं हैं, इसीसे कष्टकल्पना करके यह अर्थ निकालना पड़ता है। वे शरीरधारी थे, अन्यान्य मनुष्योंके साथ कार्यक्षेत्रमें विद्यमान थे। तथापि वे अशरीरी जगदीश्वर हैं। उनको प्रणाम करो।

मैं—किन्तु रूपकका क्या होगा ? क्या राधा-कृष्णकी उपासना करनी चाहिए ?

बाबाजी—जगदीश्वरके साथ उनके भक्तोंकी उपासना करनी उचित ही है। क्यों कि भक्त तन्मय होते हैं। भक्त भी ईश्वरका अंश हो जाते हैं। जगत् ईश्वरका भक्त है। जगत् ईश्वरमय है। जगतके ईश्वरके साथ जगतकी भी उपासना करनी चाहिए। बोलो—श्रीराधावल्लभाय नमो नमः।

मैं—श्रीराधावल्लभाय नमो नमः।

—श्रीहरिदास वैरागी।
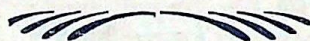
काम।

हिन्दू-धर्मके ग्रन्थोंमें 'काम' शब्दका सदा व्यवहार हुआ करता है। जो कामात्मा या कामार्थी है उसकी वारम्वार निन्दा की गई है। किन्तु साधारण पाठक इस 'काम' शब्दका अर्थ समझनेमें बड़ी गड़बड़ किया करते हैं। इसी कारण वे सर्वत्र शास्त्रका ठीक ठीक तात्पर्य नहीं समझ सकते। वे साधारणतः किसी विशेष इन्द्रियकी तृप्तिकी इच्छाके अर्थमें इस शब्दका व्यवहार किया करते हैं। वे समझते हैं कि शास्त्रमें भी इसी अर्थमें इस शब्दका व्यवहार किया गया है। किन्तु यह उनका भ्रम है। महाभारतसे दो-एक श्लोक उद्धृत करके यहाँ पर काम शब्दका अर्थ समझानेकी चेष्टा की जाती है।

"पाँच इन्द्रिय, मन और हृदय अपने विषयमें वर्त्तमान रहकर जो प्रीति प्राप्त करते हैं उसीका नाम काम है।" (वनपर्व, ३३वाँ अध्याय।) यह काम एकदम निन्दाके योग्य नहीं ठहरता। 'मन और हृदय' यह न कहकर अगर केवल पाँच इन्द्रियोंकी बात कही जाती तो समझा जाता कि इन्द्रियवश्यता (Sensuality) रूप कुप्रवृत्तिका नाम काम है। किन्तु 'मन और हृदय' का उल्लेख रहनेसे ऐसा नहीं कहा जा सकता। महाभारतमें ही दूसरे स्थानपर कहा गया है कि "माला चन्दन आदि पदार्थोंके स्पर्श या सुवर्णादि पदार्थोंके लाभसे मनुष्यको जो प्रसन्नता होती है उसीका नाम काम है।"

इससे यह देखा जाता है कि एक तो वह किसी प्रकारकी प्रवृत्ति या वृत्ति नहीं है; प्रवृत्ति या वृत्तिकी तृप्तिकी अवस्थामात्र है। दूसरे वह सर्वदा निन्दनीय या निन्दित सुख नहीं है। वह भले-बुरे कर्मोंका फलमात्र है। इसी कारण पीछेसे कहा गया है कि वह कर्मका एक उत्कृष्ट फल है। मनुष्य इसीतरह धर्म, अर्थ और कामके ऊपर अलग अलग दृष्टिपात करके केवल धर्मपर या कामपर न हो। निरन्तर समानभावसे उसे इस त्रिवर्गका अनुशीलन करना चाहिए। शास्त्रमें कहा गया है कि पहले प्रहरमें धर्मानुष्ठान, दूसरे प्रहरमें धनोपार्जन और तीसरे पहरमें कामभोग करना उचित है।

'केवल धर्मपर न होना चाहिए,' ऐसी बात सुननेसे एकाएक यह जान पड़ता है कि उपदेश देनेवाला आदमी या तो घोर अधर्मी है और या धर्मशब्दका किसी विशेष अर्थमें व्यवहार कर रहा है। यहाँ पर ये दोनों बातें कुछ कुछ सच हैं। यहाँ पर वक्ता स्वयं भीमसेन हैं। वे अधर्मी नहीं हैं, किन्तु युधिष्ठिर या अर्जुनकी तरह धर्मके सबसे ऊँचे सोपान पर नहीं पहुँच सके थे और धर्म शब्दका व्यवहार भी यहाँ उन्होंने विशेष अर्थमें किया है। उनकी एक बातसे ही यह समझमें आजाता है। वे इसके बाद ही कहते हैं—"दान, यज्ञ, साधु-पूजा, वेदपाठ और सरलता—ये ही कई एक प्रधान धर्म हैं।"

वास्तवमें हम इस समय जिसे धर्म कहते हैं वह दो प्रकारका है। एक अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाला और दूसरा औरोंसे सम्बन्ध रखनेवाला। औरोंसे सम्बन्ध रखनेवाला धर्म ही धर्मका प्रधान अंश है। किन्तु अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाला धर्म भी धर्म है, और वह एकदम तजने योग्य नहीं है। मैं दूसरेको सुखी रखकर अगर आप भी सुखसे रह सकता हूँ तो उसे छोड़कर इच्छा-पूर्वक क्यों कष्ट उठाऊँगा? इच्छापूर्वक व्यर्थ कष्ट उठाना भी अधर्म है। यहाँ पर भीमसेन दूसरोंसे सम्बन्ध रखनेवाले धर्मको ही धर्म और अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाले धर्मके फलभोगको काम कह रहे हैं। यह समझ लेनेसे 'केवल धर्मपर न होना चाहिए' यह उक्ति युक्तिसंगत जान पड़ती है।

किन्तु वास्तवमें धर्मके दो विभाग—आत्मसम्बन्धी और परसम्बन्धी—करना ठीक नहीं है। धर्म एक है। धर्ममात्रका अपनेसे और औरोंसे सम्बन्ध है। बहुत लोगोंका मत है कि धर्म केवल औरोंसे सम्बन्ध रखनेवाला ही होना चाहिए। किन्तु ईसाई आदि कुछ लोगोंका कहना है कि जिससे हम लोग परकालमें सद्गति प्राप्त कर सकें वही—केवल आत्मसम्बन्धी ही—धर्म है।

लेकिन असल बात तो यह है कि धर्मका सम्बन्ध न केवल अपनेसे है और न केवल औरोंसे है। हृदयकी सब वृत्तियोंका उचित अनुशीलन और परिणति ही धर्म है। यह काम अपने या औरोंके लिए नहीं, धर्म समझ कर ही करना चाहिए। उन वृत्तियोंका सम्बन्ध अपनेसे भी है और औरोंसे भी है। उनके अनुशीलनसे स्वार्थ और परार्थ एकसाथ सिद्ध होते हैं। मतलब यह है कि धर्मको इस प्रकारसे समझकर स्वार्थ और परार्थका भेद मिटा देना ही इस अनुशीलनवादका एक उद्देश्य है। मैंने अपने लिखे 'धर्म-तत्त्व' नामके निबन्धमें यह अनुशीलनवाद समझाया है।

देख आया है, तो इस बातपर कोई विश्वास न करेगा । उसके उक्त उपदेशसे मिथ्याज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । अतएव व्यक्ति-विशेषका उपदेश ही प्रमाण कहकर ग्राह्य है । तथापि वह ज्ञान प्राप्त करनेके पहले यह मीमांसा आवश्यक है कि कौन विश्वासके योग्य है और कौन नहीं । अब प्रश्न यह है कि किस प्रमाणके मे ''निर्भर करके यह मीमांसा की जाय ? किस प्रमाणके ऊपर निर्भर न नहीं है । आदिका कहना ' आप्त-वाक्य ' समझ कर ग्रहण किया जाय औ है । अतएव की बातें अग्राह्य समझी जायँ ? देखा जाता है कि अन्तर्ज्ञान समस्याको हल करना होगा । मनुके साथ हमारे तुम सदासे सुनते आ रहे हो कि मनुजी होता है उसके विषयमें हमें ग्रहव स्वार्थपर साधारण आदमी भी हमारा विषयका ज्ञान सूचित होता है । बात ग्राह्य है ड़े बंद हैं उस कोठरीमें सोया हुआ हूँ । इसी समय मेघने गोमांस सुन पड़ा । इससे श्रावण-प्रत्यक्ष या श्रवणसम्बन्धी प्रत्यक्ष हुआ । किन्तु गोमांस-प्रत्यक्ष ध्वनिका है, मेघका नहीं । मेघ यहाँ पर हमारे प्रत्यक्षका विद्यमानके नहीं है । तथापि हमको मालूम होगया कि आकाशमें मेघ है । ध्व प्रत्यक्षसे मेघके अस्तित्वका ज्ञान कहाँसे हुआ ? हम पहले बहुत बार उसीके चुके हैं कि आकाशमें मेघके सिवा कभी ध्वनि नहीं होती । ऐसा कभी में न्यूट-हुआ कि मेघ न हो और ऐसी ध्वनि सुन पड़े । अतएव बंद दरवाजेवा उनका कोठरीमें रहकर भी हम बिना प्रत्यक्षके जान गये कि आकाशमें मेघ है मत इसको अनुमिति या अनुमान कहते हैं । मेघकी ध्वनिको हमने प्रत्यक्ष सुनकर जाना, और मेघको अनुमानके द्वारा ।

मान लो, बंद दरवाजेवाली कोठरीमें अन्धकार है और उसके भीतर तुम अकेले हो । इसी समय तुमने शरीरके साथ अन्य किसी मनुष्यके शरीरके स्पर्शका अनुभव किया । उस समय कुछ देखे बिना ही तुमने जान लिया कि कोठरीके भीतर मनुष्य आया है । वह स्पर्शका ज्ञान त्वचाका प्रत्यक्ष है, किन्तु कोठरीके भीतर मनुष्यका ज्ञान अनुमान है । उस अँधेरी कोठरीमें तुम यदि जूहीके फूलकी महक पाओगे तो समझोगे कि वहाँ पुष्प आदि हैं । यहाँ गन्ध ही प्रत्यक्षका विषय है । पुष्प अनुमानका विषय है ।

वास्तवमें हम इस समय जिसे धर्म कहते हैं वह दो प्रकारका है। एक अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाला और दूसरा औरोंसे सम्बन्ध रखनेवाला। औरोंसे सम्बन्ध रखनेवाला धर्म ही धर्मक कि अनुम अंश है। किन्तु अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाला धर्म भी धर्म है, और ना परिश्रम ए ने योग्य नहीं है। मैं दूसरेको सुखी रखकर अगर आप भी सु अनेक विषय हैं हूँ तो उसे छोड़कर इच्छा-पूर्वक क्यों कष्ट उठाऊँ र विद्या, जिस ज्ञान, जिस उठाना भी अधर्म है। यहाँ पर भीमसेन दूर विद्या, बुद्धि, ज्ञान और तत्परता ही धर्म और अपनेसे सम्बन्ध र जाती। अतएव यह मानना पड़ेगा कि ऐसे यह समझ लेनेसे 'केवलय विषय हैं कि बहुत लोग स्वयं प्रत्यक्ष या अनुमानके द्वार। नी है। नी—

नहीं सकते। ऐसे स्थानपर हम लोग क्या करते हैं? जिसने उस वषयको स्वयं प्रत्यक्ष किया है या उसका अनुमान किया है, उसकी बात हैकर उसपर विश्वास करते हैं। इटलीदेशके उत्तरमें जो 'आल्पस' नामकी होश्रेणी है उसे तुमने प्रत्यक्ष नहीं देखा। किन्तु जिन्होंने देखा है उनकी लखी पुस्तक पढ़कर तुमको उसका ज्ञान प्राप्त हुआ। परमाणुमात्र अन्य क्षाणुओंके द्वारा आकृष्ट होते हैं। यह प्रत्यक्षका विषय नहीं हो सकता र तुम भी इसे गणनाके द्वारा सिद्ध नहीं कर सके। इस कारण तुमने 'न्यूटन' की बातपर विश्वास करके यह ज्ञान प्राप्त किया।

न्याय-सांख्य आदि आर्योंके दर्शनशास्त्रोंमें इसे एक तीसरा प्रमाण माना है। यह शब्द-प्रमाण है। उक्त दर्शनकारोंकी समझमें वेद आदिकी प्रामाणिकता इसी प्रमाण पर निर्भर है। आप्तवाक्य या गुरुका उपदेश साधारणतः विश्वासके योग्य है। आर्यलोगोंके मतसे यह भी एक स्वतन्त्र प्रमाण है। इसीका नाम शब्द-प्रमाण है।

किन्तु चार्वाक आदि कुछ आर्य दार्शनिक इसे प्रमाण नहीं मानते। यूरोपके दार्शनिक भी इसे एक स्वतन्त्र प्रमाण माननेके लिए तयार नहीं हैं।

साधारणतः देखा जाता है कि सबकी बातोंपर विश्वास करना अकर्त्तव्य है। यदि कोई प्रसिद्ध मिथ्यावादी आकर कहे कि वह जलमें आग जलते

देख आया है, तो इस बातपर कोई विश्वास न करेगा। उसके उक्त उपदेशसे मिथ्याज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतएव व्यक्ति-विशेषका उपदेश ही प्रमाण कहकर ग्राह्य है। तथापि वह ज्ञान प्राप्त करनेके पहले यह मीमांसा आवश्यक है कि कौन विश्वासके योग्य है और कौन नहीं। अब प्रश्न यह है कि किस प्रमाणके ऊपर निर्भर करके यह मीमांसा की जाय? किस प्रमाणके ऊपर निर्भर करके 'मनु' आदिका कहना 'आप्त-वाक्य' समझ कर ग्रहण किया जाय और रामू श्यामूकी बातें अग्राह्य समझी जायँ ? देखा जाता है कि अनुमानके द्वारा इस समस्याको हल करना होगा। मनुके साथ हमारे पादरी साहबका मतभेद है। तुम सदासे सुनते आ रहे हो कि मनुजी अभ्रान्त ऋषि थे और पादरी साहब स्वार्थपर साधारण आदमी हैं। इस लिए तुमने अनुमान किया कि मनुकी बात ग्राह्य है और पादरीकी बात अग्राह्य है। मनुके समान अभ्रान्त ऋषिने गोमांस सेवनका निषेध किया है; इसीसे तुमने अनुमान किया कि गोमांस-अभक्ष्य है। तब 'शब्द'को एक स्वतन्त्र प्रमाण न कहकर अनुमानके अन्तर्गत ही क्यों नहीं कहते?

केवल यही नहीं। जिसके कुछ उपदेशोंको ग्राह्य समझते हो उसीके अन्य कुछ उपदेशोंको अग्राह्य समझते हो। माध्याकर्षणके सम्बन्धमें न्यूटनका जो मत है उसे तुम मानते हो, किन्तु प्रकाशके सम्बन्धमें जो उनका मत है उसे छोड़कर तुम क्षुद्रतर बुद्धिजीवी यंग और फेनेल साहबका मत मानते हो। इसका कारण क्या है? इसके कारणका अनुसंधान करनेसे वह कारण अनुमान ही जान पड़ेगा। अनुमानके द्वारा तुमने जाना है कि माध्याकर्षणके सम्बन्धमें न्यूटनका मत सत्य है और प्रकाशके सम्बन्धमें जो उनका मत है वह गलत है। यदि शब्द एक जुदा ही प्रमाण होता तो उसके सभी मतोंको तुम स्वीकार करते।

किन्तु भारतवर्षमें यही होता है। भारतवर्षमें जिसका एक मत अभ्रान्त और ग्राह्य है उसके सभी मत ग्राह्य समझे जाते हैं। इसका कारण यही है कि यहाँ शब्द एक स्वतन्त्र प्रमाण माना गया है। आर्योंके दर्शनशास्त्रकी आज्ञा है कि आप्तवाक्यमात्र ग्राह्य हैं। यह कहनेकी तो कोई आवश्यकता ही

नहीं कि इसप्रकार विशेषविचारके बिना ऋषियों और पण्डितोंके हरएक मतको ग्रहण करना भी भारतवर्षकी अवनतिका एक कारण है। यहाँके दार्शनिकोंकी इस एक क्षुद्र भ्रान्तिसे साधारण कुफल या अनिष्ट नहीं हुआ है।

प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्दके अतिरिक्त नैयायिक लोग उपमितिको भी एक स्वतन्त्र प्रमाण समझते हैं। विचार करके देखनेसे यही सिद्ध होगा कि उपमिति अनुमितिका प्रकारभेद मात्र है, और इसी कारण सांख्य आदि दर्शनोंमें उपमितिको एक स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना है। अतएव उपमितिके विस्तृत उल्लेखका प्रयोजन नहीं जान पड़ता। वास्तवमें प्रत्यक्ष और अनुमान ही ज्ञानकी जड़ हैं।

अनुमानकी भी जड़ प्रत्यक्ष ही है। जिस विषयका कभी प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हुआ उसका अनुमान भी नहीं हो सकता। तुम अगर कभी पहले मेघको न देखते या अगर और कोई कभी न देखता, तो तुम बंद दरवाजेवाले घरमें मेघका गर्जन सुनकर कभी मेघका अनुमान न कर सकते। तुम अगर कभी जूहीकी खुशबूका प्रत्यक्ष ज्ञान न प्राप्त करते, तो अंधेरे घरमें जूहीकी खुशबू सूँघकर कभी अनुमान न कर सकते कि इस घरमें जूहीका फूल है। इसी तरह अन्यान्य पदार्थोंके सम्बन्धमें भी कहा जा सकता है। कभी कभी एक अनुमानकी जड़में बहुतसे बहुजातीय पूर्व-प्रत्यक्ष भी देखे जाते हैं। एक एक वैज्ञानिक नियम हजार हजार तरहके प्रत्यक्ष ज्ञानका फल है।

अतएव प्रत्यक्ष ही ज्ञानका एकमात्र मूल है। यही सब प्रमाणोंकी जड़ है। * अनेक लोग यह जानकर विस्मित होंगे कि दर्शनशास्त्र दो-तीन हजार वर्षतक घूम-फिर कर फिर उसी चार्वाकके मतके पास पहुँच गया है। धन्य है आर्य लोगोंकी बुद्धि! इतने दिनोंके बाद जिसे ह्यूम, मिल, बेन आदिने सिद्ध किया है उसे दो हजार वर्षसे भी पहले बृहस्पति प्रतिपादित कर गये हैं। कोई यह न समझे कि हम यह कह रहे हैं कि प्रत्यक्षके सिवा प्रमाण नहीं है। हम यह कहते हैं कि सब प्रमाणोंकी जड़ प्रत्यक्षप्रमाण है।

---

* इन सब मतोंको इस समय मैंने त्याग कर दिया है।—ग्रन्थकार।

बृहस्पतिके सब ग्रन्थ लुप्त हो जानेके कारण यह निश्चय करना कठिन है कि बृहस्पतिने ठीक यही कहा था या नहीं ।

प्रत्यक्ष ही ज्ञानकी एकमात्र जड़ है । किन्तु इस तत्त्वमें यूरोपके दार्शनिकोंके बीच एक भारी झगड़ा है । कोई कोई कहते हैं, हम लोगोंके ऐसे अनेक ज्ञान हैं जिनके मूलमें प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं पाया जाता । जैसे काल, आकाश आदि ।

यह बात समझना जरा कठिन है । आकाशके सम्बन्धमें एक सहज बात ले लीजिए । जैसे—दो समान्तराल रेखायें चाहे जितनी दूरतक घसीटिए, वे कभी मिल नहीं सकतीं । इस तत्त्वको हम निश्चित रूपसे जानते हैं । किन्तु यह ज्ञान हमने कहाँसे पाया ? प्रत्यक्षवादी कहेंगे कि "प्रत्यक्षके द्वारा । हमने जितनी समान्तराल रेखायें देखी हैं वे कभी एकमें मिलीं नहीं ।" इसपर दूसरे पक्षके लोग कहेंगे कि "जगतमें जितनी समान्तराल रेखायें हुई हैं, उन सबको तुमने नहीं देखा । तुमने जिन रेखाओंको देखा है वे अवश्य नहीं मिलीं, किन्तु तुमने यह किस तरह जाना कि कभी कहीं ऐसी दो समान्तराल रेखायें नहीं खींची गई, या खींची न जायँगी, जो खींचते खींचते एक जगहपर न मिली हों, या न मिलेंगी ? जिसे मनुष्यने प्रत्यक्ष देखा है उससे तुमने अप्रत्यक्ष विषयके बारेमें कैसे निश्चय कर लिया ? तथापि हम यह जानते हैं कि जो तुम कह रहे हो वह सत्य है—कभी कहीं ऐसी दो समान्तराल रेखायें नहीं हो सकतीं कि वे मिल जायँ । तब यह मानना पड़ेगा कि प्रत्यक्षके सिवा और किसी ज्ञानका मूल तुममें हैं; नहीं तो तुमने यह प्रत्यक्षसे अतिरिक्त ज्ञान कहाँसे पाया ?"

यही कहकर प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक कोम्टने लक और ह्यूमके प्रत्यक्षवादका प्रतिवाद किया है । इसके अतिरिक्त ज्ञानके सम्बन्धमें वे यह कहते हैं कि जहाँ बाह्यविषयका ज्ञान हमारी इन्द्रियके द्वारा होता है वहाँ बाह्यविषयकी प्रकृतिके सम्बन्धमें किसी तत्त्वकी नित्यता हमारे ज्ञानसे अतीत होने पर भी हमारी इन्द्रियोंकी प्रकृतिकी नित्यता हमारे ज्ञानके अधीन है । अपनी इन्द्रियोंकी प्रकृतिके अनुसार हम बाह्यविषयोंको कुछ निर्दिष्ट अवस्थाओंको प्राप्त

कुछ निश्चय ही नहीं हुआ कि वह पुण्य क्या है और किस प्रकार उसका उपार्जन किया जाता है।

अच्छा मान लो, यह भी निश्चित हो गया है। मान लो, ब्राह्मणभक्ति, गंगास्नान, तुलसीकी माला और हरिनामकीर्तन इत्यादि पुण्यकार्य हैं। ये ही मनुष्य-जीवनके उद्देश्य हैं। अथवा मान लो कि रविवारको काम न करना, गिरजेमें बैठकर आँखें मूँदना और ख्रीष्टधर्मके सिवा दूसरे धर्मसे विद्वेष ही पुण्यकर्म है! इसको भी जाने दो। दान, दया, सत्यनिष्ठा आदिको सभी लोग पुण्यकार्य मानते हैं। किन्तु तथापि यह नहीं देख पड़ता कि दान, दया, सत्यनिष्ठा आदिको अधिक लोग अपने जीवनका उद्देश्य समझनेका अभ्यास रखते हों और उन्हें सिद्ध करते हों। अतएव इस बातको सभी लोग स्वीकार नहीं करते कि पुण्य ही जीवनका उद्देश्य है। जहाँ यह बात सर्वस्वीकृत है वहाँ वह विश्वास केवल जबानी जमा-खर्च भर है।

वास्तवमें अगर देखा जाय तो जीवनके उद्देश्यके तत्त्वकी मीमांसाको लेकर मनुष्यलोकमें इस समय भी बड़ी गड़बड़ मची हुई है। लाखों वर्ष पहले, अनन्तसमुद्रके गहरे जलके भीतर जो अणुवीक्षणसे देख पड़नेवाले जीव रहते थे उनके देहतत्त्वको लेकर तो मनुष्य विशेष व्यस्त देख पड़ते हैं; परन्तु इस बातके निर्णयकी विशेष चेष्टा नहीं देख पड़ती कि इस संसारमें उन्हें खुद क्या करना चाहिए। बहुत लोग किसी तरह अपना पेट पालकर अन्यान्य बाह्य इन्द्रियोंको चरितार्थ करके आत्मीय-स्वजनोंके भी पेट पाल सकनेको ही मनुष्यजन्मकी सफलता समझते हैं। इसके सिवा किसीतरह औरोंपर प्रधानता प्राप्त करना भी एक उद्देश्य देख पड़ता है। पेटपालनके उपरान्त, धनसे हो या किसी अन्य-प्रकारसे हो, लोगोंमें यथासाध्य प्रधानता प्राप्त करनेको अपने जीवनका उद्देश्य समझकर लोग काम करते हैं। लोगोंकी समझमें यह प्रधानता प्राप्त करनेका उपाय धन, राजपद और यशकी प्राप्ति ही है। अतएव, मुखसे चाहे कोई न कहे किन्तु कार्यके द्वारा धन, पद और यशकी प्राप्ति ही मनुष्यजीवनका सर्ववादिसम्मत उद्देश्य जान पड़ता है। इन्हीं तीनोंके

समवायको समाजमें सम्पत्ति कहते हैं। तीनों बातोंका एकत्र होना दुर्लभ है, इसलिए दो-एक—खासकर धन—होनेसे भी उसे सम्पत्ति मान लेते हैं। इस सम्पत्तिकी आकांक्षा ही समाजमें जीवनका मुख्य उद्देश्य समझी जाती है और यही समाजके घोरतर अनिष्टका कारण भी है। समाजकी उन्नतिकी गति धीमी होनेका प्रधान कारण यही है कि धीरे धीरे बाह्य सम्पत्ति ही मनुष्य-जीवनका प्रधान उद्देश्य बनती जाती है। * केवल साधारण मनुष्योंके खयालमें नहीं, यूरोपके प्रधान पण्डितों और राजपुरुषोंके खयालमें भी यह बाह्यसम्पत्ति ही मनुष्य-जीवनका प्रधान उद्देश्य है।

शायद ही कभी कभी बीचमें ऐसा कोई संसारमें उत्पन्न हो जाता है कि वह बाह्यसम्पत्तिको मनुष्य-जीवनका उद्देश्य समझना कैसा, उसे जीवनके उद्देश्यकी सिद्धिका प्रधान विघ्न समझकर दलसे अलग हो जाता है। जिस राज्यसम्पत्तिको अन्य लोग जीवनकी सफलताकी सामग्री समझते हैं उसीको विघ्न समझकर, शाक्यसिंहने लात मार दी। भारतमें और यूरोपमें भी ऐसे मुनिवृत्तिधारी अनेक महापुरुष उत्पन्न हुए हैं जिन्होंने बाह्यसम्पत्तिसे इतनी घृणा दिखाई है। किन्तु मैं यह नहीं कह सकता कि इन्होंने ही असली और यथार्थ मार्गका अवलंबन किया। शाक्यसिंहने यह शिक्षा दी कि इस लोकके व्यापारोंमें मन लगाना ही अनिष्टका कारण है—मनुष्य सर्वत्यागी होकर निर्वाणकी कामना करे। भारतमें इस शिक्षाका फल विषमय हुआ है। मनुष्य-जीवनके उद्देश्यके सम्बन्धमें इस प्रकार और भी अनेक मुनि-वृत्ति महापुरुषोंकी भ्रान्त धारणा होनेके कारण वे ऐहिक सम्पत्तिके प्रति विरक्त होकर भी समाजका इष्ट करनेमें विशेष कृतकार्य नहीं हो सके। साधारणतः संन्यासी आदि सर्वदेशीय वैरागी-संप्रदायको उदाहरणके तौरपर निर्दिष्ट करनेसे ही यह बात अच्छी तरह प्रमाणित हो जायगी।

---

* यह स्वीकार करता हूँ कि किसी परिमाणमें धनकी आकांक्षा समाजके लिए मंगलकर है। धनकी आकांक्षामात्रको ही मैं अमंगलजनक नहीं समझता; किन्तु धन मनुष्य-जीवनका उद्देश्य होना ही अमंगलकर है।

कहनेका तात्पर्य यह है कि धन-संचय आदिकी तरह सुखशून्य, शुभफल-शून्य, महत्त्वशून्य कार्य प्रयोजनीय होनेपर भी कभी मनुष्य-जीवनका उद्देश्य कहकर स्वीकृत नहीं हो सकते। यह जन्म भविष्य पारलौकिक जीवनके लिए परीक्षामात्र है। पृथ्वीतल स्वर्गलाभके लिए कर्मभूमि मात्र है। यह बात यदि यथार्थ हो, तो परलोकमें सुख देनेवाले कार्यका अनुष्ठान ही जीवनका उद्देश्य होना उचित है। किन्तु पहले तो वैसे कार्य कौन हैं, इसी विषयमें मतभेद है—निश्चय करनेका बिल्कुल कोई उपाय नहीं है और दूसरे परलोकके अस्तित्वका ही कोई प्रमाण नहीं है।

तीसरे परलोकके रहने पर भी—यह पृथ्वी परीक्षा-भूमि मात्र होने पर भी—ऐहिक और पारलौकिक भलाईमें विभिन्नता होनेका कोई कारण नहीं देख पड़ता। यदि परलोक है तो जिस व्यवहारसे परलोकमें भलाई होनेकी संभावना है उसी कार्यसे इस लोकमें भी भलाई होनेकी संभावना है। इस लोकमें उसीसे भलाई होनेकी संभावना न होनेका कारण अबतक कोई बतला नहीं सका। धर्मका आचरण यदि मंगलका कारण हो तो यह बात किस तरह प्रामाणित होती है कि वह केवल परलोकमें ही मंगलप्रद है, इस लोकमें नहीं। ईश्वर स्वर्गमें बैठकर काजीकी तरह न्याय-विचार करते हैं—पापीको नरककुंडमें डालते हैं और पुण्यात्माको स्वर्ग भेजते हैं। इन प्राचीन मनोरंजक दन्तकथाओंको प्रमाण नहीं माना जासकता। जो लोग कहते हैं कि इस लोकमें अधार्मिककी भलाई और धर्मात्माकी बुराई होते देखी जाती है, उनकी दृष्टिमें केवल धनसम्पत्ति आदि ही शुभ या भलाई है। उनका विचार इस मूलमें ही होनेवाली भ्रान्तिसे दूषित है। यदि पुण्यकर्म परलोकमें शुभप्रद है तो वह इस लोकमें भी शुभप्रद होगा। किन्तु वास्तवमें केवल पुण्यकर्म क्या इस लोकमें और क्या परलोकमें, शुभप्रद नहीं हो सकता। जिस प्रकारकी मनोवृत्तिका फल पुण्यकर्म है उसीका दोनों लोकोंमें शुभप्रद होना संभव है। यदि कोई केवल मजिस्ट्रेटसाहबकी प्रेरणाके वशीभूत होकर, या यशकी लालसासे, अप्रसन्न चित्तसे दुर्भिक्षनिवारणके लिए लाखों रुपये देता है तो वह उससे परलोकके लिए पुण्य सञ्चय

कैसे कर सकता है ? दान पुण्यकर्म अवश्य है, किन्तु यह कोई नहीं कह सकता कि ऐसे दानसे परलोकका कुछ उपकार होगा। किन्तु जो अर्थाभावके कारण दान नहीं कर सका, किन्तु दान न कर सकनेके कारण खिन्न है उसका इस लोकमें और परलोक अगर हो तो वहाँ भी, सुखी होना संभव है।

अतएव मनोवृत्तियोंके जिस अवस्थामें परिणत होनेसे पुण्यकर्म उसके फलके रूपमें आप ही निष्पन्न होता है, परलोक अगर हो तो वही परलोकमें भी शुभप्रद है, यह बात मानी जा सकती है। परलोक हो चाहे न हो, इस लोकमें वही मनुष्य-जीवनका उद्देश्य है। किन्तु केवल वह अवस्था ही मनुष्य-जीवनका उद्देश्य नहीं हो सकती। जैसे कुछ मानसिक वृत्तियोंकी चेष्टा कर्म है और जैसे उन वृत्तियोंके अच्छी तरह परिमार्जित और उन्नत होनेसे स्वभावतः शुभ कर्मके करनेकी प्रवृत्ति होती है वैसे ही और भी कुछ वृत्तियाँ हैं। उनका उद्देश्य किसी तरहका कार्य नहीं है—ज्ञान ही उनकी क्रिया है। कार्यकारिणी वृत्तियोंका अनुशीलन जैसे मनुष्यजीवनका उद्देश्य है वैसे ही ज्ञानोपार्जनकी वृत्तियोंका अनुशीलन भी जीवनका उद्देश्य होना उचित है। वास्तवमें अगर देखा जाय तो देख पड़ेगा कि सब प्रकारकी मानसिक वृत्तियोंका सम्यक् अनुशीलन, संपूर्ण स्फूर्ति, यथोचित उन्नति और विशुद्धि ही मनुष्य-जीवनका उद्देश्य है।

यह बात नहीं है कि ऐसे मनुष्योंने जगतमें जन्म ही न लिया हो जिन्होंने केवल इसी उद्देश्यका अवलंबन कर, सम्पत्ति आदिको उपयुक्त घृणा दिखाकर अपना जीवन बिताया हो। ऐसे लोगोंकी संख्या बहुत कम होनेपर भी उनके जीवनचरित मनुष्योंको अमूल्य शिक्षा दे सकते हैं। जीवनके उद्देश्येक सम्बन्धमें ऐसी शिक्षा और किसी तरह नहीं मिल सकती। नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, विज्ञान, दर्शन आदि सबकी अपेक्षा यही प्रधान शिक्षा है। दुर्भाग्यवश ऐसे लोगोंके जीवनके गूढ़तत्त्व अपरिज्ञेय हैं। केवल दो आदमी आप अपना जीवनचरित लिखकर रख गये हैं,—एक गेटे और दूसरे जान स्टुअर्ट मिल।

चित्तकी शुद्धि।

हिंदूधर्मका सारांश चित्तकी शुद्धि है। जो लोग हिन्दूधर्मपर विशेष अनुराग रखते हैं, अथवा जिन्हें हिन्दूधर्मके यथार्थ मर्मके अनुसन्धानकी इच्छा है उनसे मैं अनुरोध करता हूँ कि वे इस तत्त्वकी ओर विशेष ध्यान दें। हिन्दूधर्मके अन्तर्गत और कोई भी तत्त्व इस तत्त्वके समान मर्म-गत नहीं है। साकारकी उपासना या निराकारकी उपासना, एकेश्वरवाद या बहुत देवतोंकी भक्ति, द्वैतवाद या अद्वैतवाद, ज्ञानवाद, कर्मवाद और भक्तिवाद, सब कुछ इसके निकट तुच्छ हैं। चित्तशुद्धिके होनेसे सभी मत शुद्ध हैं और चित्तशुद्धिके बिना सभी मत अशुद्ध हैं। जिसका चित्त शुद्ध नहीं है उसका कोई धर्म नहीं है। जिसका चित्त शुद्ध है उसको और किसी धर्मका प्रयोजन नहीं है। यह बात नहीं है कि चित्तशुद्धि केवल हिन्दूधर्मका ही सार हो, वह सभी धर्मोंका सारांश है। यह हिन्दूधर्मका सारांश है, ईसाईधर्मका सारांश है, मुसलमानीधर्मका सारांश है, निरीश्वर-धर्मका भी सारांश है। जिसका चित्त शुद्ध है, वह श्रेष्ठ हिन्दू, श्रेष्ठ ईसाई, श्रेष्ठ बौद्ध, श्रेष्ठ मुसलमान और श्रेष्ठ निरीश्वरवादी है। जिसका चित्त शुद्ध नहीं है वह किसी धर्मके लोगोंमें धार्मिक नहीं समझा जाता। चित्तकी शुद्धि ही धर्म है और खासकर हिन्दूधर्ममें ही इसकी प्रबलता है। जिसका चित्त शुद्ध नहीं है वह हिन्दू ही नहीं। मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रोंके सम्पूर्ण विधिविधानके अनुसार सब काम करनेपर भी वह हिन्दू नहीं है।

यह चित्त-शुद्धि क्या है, यह बात दो–एक लक्षणोंके द्वारा समझानेकी चेष्टा करता हूँ। चित्तशुद्धिका पहला लक्षण है इन्द्रिय-संयम। इन्द्रिय-संयमका यह अर्थ नहीं है कि सब इन्द्रियोंका एकदम विध्वंस या उच्छेद कर डालो। इसका अर्थ यही है कि इन्द्रियोंको संयत करो। उदाहरणस्वरूप पेटूपनको ले लीजिए। पेटू होना एक प्रकारकी इन्द्रियपरता है। इस इन्द्रियके संयमका यह अर्थ न समझा जायगा कि कभी खाइए नहीं, हवा खाकर रहिए, अथवा खराब भोजन कीजिए। शरीररक्षा और स्वास्थ्यरक्षाके लिए जितने और जैसे आहारकी आवश्यकता है वह अवश्य करना होगा। वैसा करनेसे इन्द्रिय-संयममें कोई व्यतिक्रम न होगा। इन्द्रियसंयम वैसा कठिन काम

नहीं है। बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि जितेन्द्रिय पुरुष स्पृहा-शून्य होकर अच्छे अच्छे भोजन भी कर सकता है।* कहनेका तात्पर्य यह है कि इन्द्रियोंमें आसक्तिका अभाव ही इन्द्रिय-संयम है। आत्मरक्षा या धर्मरक्षा अर्थात् ईश्वरीय नियमकी रक्षाके लिए जितना इन्द्रिय-भोग आवश्यक है उससे अधिक इन्द्रिय-तृप्तिकी जो अभिलाषा करता है वही इन्द्रियोंका संयम नहीं कर सका। और, जो वैसी अभिलाषा नहीं रखता वही जितेन्द्रिय है। जिसे इन्द्रिय-परितृप्तिमें कोई सुख नहीं है, कोई आकांक्षा नहीं है, केवल धर्मरक्षाका ध्यान है वही संयतेन्द्रिय है।

ऐसे अनेक आदमी देखे जाते हैं जो जाहिरमें इन्द्रिय-परितृप्तिसे बिल्कुल विमुख हैं, पर मनके कलुषको नहीं धोसके। वे लोकलज्जासे, लोगोंसे प्रतिपत्ति प्राप्त करनेके लिए, या ऐहिक उन्नतिके लिए, अथवा धर्मका ढोंग रचनेके लिए संयतेन्द्रिय पुरुषका सा आचरण करते हैं, पर उनके हृदयके भीतर इन्द्रिय-भोगकी लालसा बहुत ही प्रबल होती है। जन्मसे लेकर मृत्युतक कभी कुमार्गगामी न होनेपर भी वे इन्द्रियसंयमसे बहुत दूर रहते हैं। जो लोग बारम्बार इन्द्रिय-परितृप्तिका उद्योग करके उसमें सफलता भी प्राप्त करते हैं उनमें और इन धर्मात्मा लोगोंमें बहुत ही कम भेद होता है। दोनों समान रूपसे इस लोकके नरककी आगमें जला करते हैं। इन्द्रियोंको तृप्त करो या न करो, इन्द्रिय-संयम तभी होगा जब भूल कर भी मनमें इन्द्रियपरितृप्तिका खयाल न हो—आत्मरक्षा या धर्मरक्षाके लिए इन्द्रियोंको चरितार्थ करने पर भी वह दुःखके सिवा सुख न जान पड़े। यह न होने पर कठोर योग और तपस्या सब वृथा है। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिए हिन्दुओंके पुराणों और इतिहासोंमें ऋषियोंके सम्बन्धकी अनेक कथाये हैं। स्वर्गसे एक अप्सरा आई और उसने एक ऋषिको तपस्यासे भ्रष्ट कर दिया। वह भी उसपर आसक्त होगये। इन सब

---

* रागद्वेषविमुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ (गीता अ० २, श्लो० ६४।)

अर्थात्—राग-द्वेष-हीन और अपने वशीभूत इन्द्रियोंके द्वारा विषयभोग करता हुआ विधेयात्मा पुरुष प्रसन्नता (अर्थात् चित्तशुद्धि) को प्राप्त होता है।

कथाओंसे हमें एक यह शिक्षा प्राप्त होती है कि योग या तपस्यासे इन्द्रियसंयमकी प्राप्ति नहीं होती। कार्यक्षेत्रमें—संसारधर्ममें—ही इंद्रियसंयम प्राप्त किया जाता है। नित्य वनमें रहकर, इन्द्रियतृप्तिकी सामग्रियोंसे दूर रहकर, सब विषयोंसे निर्लिप्त होकर यह अवश्य समझा जा सकता है कि मैंने इन्द्रियोंको वशमें कर लिया, किन्तु कच्चा घड़ा जैसे पानी लगते ही नहीं टिकता, वैसे ही ऐसा कच्चा इन्द्रिय-संयम भी लोभके आते ही नष्टभ्रष्ट होजाता है। जो नित्य इन्द्रिय-भोगोपयोगी सामग्रियोंके संसर्गमें रहता है, उनके साथ युद्ध करके कभी जीतता और कभी हारता है, वही अन्तको इन्द्रियोंको जीत सकता है। विश्वामित्र या पराशर इन्द्रियोंको नहीं जीत सके, और भीष्म या लक्ष्मणने इन्द्रियोंको जीत लिया। यह हिन्दूधर्मकी एक बहुत ही गूढ़ बात है।

किन्तु इन्द्रिय-संयम भी अपेक्षाकृत तुच्छ है। चित्तशुद्धिका उसकी भी अपेक्षा बड़ा और कठिन लक्षण है। बहुत लोग ऐसे हैं जो जितेन्द्रिय हैं, किन्तु अन्य कारणोंसे उनका चित्त शुद्ध नहीं है। उनके मनमें इंद्रिय-सुखकी इच्छा न रहनेपर भी यह वासना बड़ी प्रबल है कि मैं अच्छा रहूँ, मेरे सब अच्छे रहें। वे ऐसी कामना करते हैं कि मुझे धन मिले, मेरा मान हो, मुझे सम्पत्ति, यश और सौभाग्य मिले, मैं बड़ा होऊँ, और सब मेरी अपेक्षा छोटे रहें। जिनके ये सब अभीष्ट सिद्ध होते हैं वे सदा नित्य प्रति इसी चेष्टा और इसी उपयोगमें व्यस्त रहते हैं। ऐसा कोई काम नहीं जिसे वे इसके लिए न करें, ऐसा कोई विषय नहीं जिसमें वे इसे छोड़कर मन लगावें। इंद्रियासक्त पुरुषोंकी अपेक्षा भी ये लोग निकृष्ट हैं। इनके निकट धर्म, कर्म, ज्ञान और भक्ति कोई चीज नहीं है। ईश्वरको मानने पर भी उनके लेखे ईश्वर नहीं है, जगतके रहने पर भी उनके लेखे जगत् नहीं है। केवल वे ही हैं, उनके सिवा और कुछ नहीं है। उनका यह अपना आदर और स्वार्थपरता इन्द्रियासक्तिसे भी बढ़कर चित्तशुद्धिका विघ्न है। परोपकारका भाव आये बिना कभी चित्त-शुद्धि नहीं होती। जब यह समझेंगे कि जैसे हम हैं वैसे ही दूसरा है, जब जैसे अपने सुखको खोजेंगे वैसे ही दूसरेके सुखको भी खोजेंगे, जब अपनेसे दूसरोंको अलग न समझेंगे, जब अपनेकी

अपेक्षा भी दूसरोंको अपना समझेंगे, जब धीरे धीरे अपनेको भूल जाकर दूसरेको ही सर्वस्व जान सकेंगे, जब दूसरोंमें अपनेको लीन कर देंगे, जब हमारा आत्मा विश्वव्यापी विश्वमय हो जायगा, तभी चितकी शुद्धि होगी। यदि ऐसा न हुआ तो लँगोटी लगाकर, संसारको छोड़कर, भगवानका नाम लेकर द्वार-द्वार पर भीख माँगते फिरनेसे चित्तशुद्धि न होगी। पक्षान्तरमें राजसिंहासन पर हीरा पन्नाके जड़ाऊ गहने पहने बैठा हुआ राजा भी यदि एक भिक्षुक प्रजाके दुःखको अपना ही दुःख समझ सकता है तो उसका चित्त शुद्ध समझना चाहिए। जो ऋषि विश्वामित्रको एक गऊ नहीं दे सके, उनका चित्त शुद्ध नहीं था। और, जो राजा शरणागत कबूतरके लिए अपना मांस काटकर बाजको दे सके थे उनका चित्त शुद्ध था।

परन्तु इसकी अपेक्षा भी चित्तकी शुद्धिका एक बड़ा भारी लक्षण है। जो सब शुद्धियोंकी समष्टि करनेवाले हैं, जो शुद्धिमय हैं, जिनकी कृपा, ध्यान और अनुकम्पाके बिना शुद्धि नहीं होती उनमें गाढ़ी भक्ति ही चित्त-शुद्धिका प्रधान लक्षण है। इन्द्रियसंयम या परोपकारका भाव, उनके सम्पूर्ण स्वभावके चिन्तन और उनके प्रति गाढ़े अनुरागके सिवां कभी नहीं प्राप्त हो सकता। यह भगवद्भक्ति ही चित्तशुद्धि और धर्मकी जड़ है।

चित्तशुद्धिके प्रथम लक्षणके सम्बन्धमें जो कहा गया है उसका स्थूल तात्पर्य है हृदयमें शान्ति। दूसरे लक्षणके सम्बन्धमें जो कहा गया है उसका स्थूल तात्पर्य है मनुष्योंके प्रति प्रीति। तीसरे लक्षणके संबंधमें जो कहा गया है उसका तात्पर्य है ईश्वरकी भक्ति। अतएव चित्तशुद्धिका सम्पूर्ण लक्षण हुआ हृदयमें शान्ति, मनुष्योंके प्रति प्रीति और ईश्वरकी भक्ति। यही हिन्दूधर्मके मर्मकी बात है।

भक्ति-प्रीति-शान्तिमयी इस चित्तशुद्धिको हिन्दूशास्त्रकारोंने किस तरह समझाया है सो बतलानेके लिए उदाहरणके तौरपर श्रीमद्भागवतके तृतीय-स्कन्धसे भगवान् कपिलदेवकी निम्नलिखितं उक्ति यहाँपर उद्धृत की जाती है:—

लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतं।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥ १०॥

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥ ११ ॥
स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः ।
येनातिव्रज्य त्रिगुणान् मद्भावायोपपद्यते ॥ १२ ॥
निषेवितानिमित्तेन स्वधर्मेण महीयसा ।
क्रियायोगेन शस्तेन नातिहिंस्रेण नित्यशः ॥ १३ ॥
मद्धिष्ण्यदर्शनस्पर्शपूजास्तुत्यभिवन्दनैः ।
भूतेषु मद्भावनया सत्त्वेनासंगमेन च ॥ १४ ॥
महतां बहुमानेन दीनानामनुकम्पया ।
मैत्र्या चैवात्मतुल्येषु यमेन नियमेन च ॥ १५ ॥
आध्यात्मिकानुश्रवणान्नामसंकीर्त्तनाच्च मे ।
आर्जवेनार्यसंगेन निरहंक्रियया तथा ॥ १६ ॥
मद्धर्म्मिणो गुणैरेतैः परिसंशुद्ध आशयः ।
पुरुषस्याञ्जसाऽभ्येति श्रुतमात्रगुणं हि माम् ॥ १७ ॥
यथा वातरथो घ्राणमावृङ्क्ते गन्ध आशयात् ।
एवं योगरतं चेत आत्मानमविकारि यत् ॥ १८ ॥
अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा ।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥ १९ ॥
यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् ।
हित्वाऽर्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः ॥ २० ॥
द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः ।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति ॥ २१ ॥
अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयाऽनघे ।
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः ॥ २२ ॥
अर्चादावर्चयेत्तावदीश्वरं मां स्वकर्मकृत् ।
यावन्न वेद स्वहृदि सर्वभूतेष्ववस्थितम् ॥ २३ ॥

आत्मानश्च परस्यापि यः करोत्यन्तरोदरम् ।
तस्य भिन्नदृशो मृत्युर्विदधे भयमुल्बणम् ॥ २४ ॥
अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम् ।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा ॥ २५ ॥

(भागवत, तृतीयस्कन्ध, २९ वाँ अध्याय ।)

कपिलदेवजी अपनी माता देवहूतिसे कहते हैं कि पुरुषोत्तममें अकारण और अन्तररहित भक्ति ही निर्गुण भक्तियोगका लक्षण है ॥ १० ॥ मेरे ऐसे भक्त मेरी सेवाके लिए मेरी दी हुई सालोक्य (मेरे साथ एक लोकमें निवास), सार्ष्टि (मेरे समान ऐश्वर्य), सामीप्य (मेरे समीप रहना), सारूप्य (मेरा ऐसा रूप) और एकत्व (अर्थात् सायुज्य) आदि सब प्रकारकी मुक्तियोंको भी नहीं ग्रहण करते ॥ ११ ॥ यही आत्यन्तिक भक्तियोग है । इसके द्वारा त्रिगुणातीत होकर जीव मेरे भावको प्राप्त हो जाता है ॥ १२ ॥ इस प्रकारके भक्तियोगके साधन आगे कहे जाते हैं । अपने श्रेष्ठ निष्काम धर्मद्वारा इस भक्तिका सेवन करना, पञ्चरात्र आदिमें वर्णित प्रशस्त कर्मकाण्डके द्वारा पूजा करना, मेरी प्रतिमा आदिका दर्शन, स्पर्श, पूजा, स्तुति, वन्दना, सब प्राणियोंमें मेरे भावकी चिन्ता, धैर्य, वैराग्य, महात्माओंका सम्मान, दीनों-पर दया, आत्मतुल्य व्यक्तियोंसे मैत्री, यम अर्थात् बाहरी इन्द्रियोंका दमन, नियम अर्थात् भीतरी इन्द्रियोंका निग्रह, आध्यात्मिक विषयोंका श्रवण, मेरे नामोंका कीर्तन, सरलता, सत्सङ्ग और अहङ्कारका त्याग ॥ १३ ॥–१६ ॥ मेरे धर्मके इन गुणोंसे जिसकी चित्तशुद्धि हो गई है वह पुरुष मेरे गुणोंका श्रवण करते ही अनायास मुझे प्राप्त होजाता है ॥ १७ ॥ जैसे गन्ध वायुके द्वारा अनायास ही घ्राणेन्द्रिय तक पहुँच जाता है वैसे ही भक्तियो-गयुक्त शुद्धचित्त परमात्माको प्राप्त होता है ॥ १८ ॥ मैं आत्मा-रूपसे सदा सब प्राणियोंमें अवस्थित हूँ । तथापि कोई कोई मूढ़ पुरुष मेरी अवहेला करके प्रतिमा-पूजारूप व्यर्थकी विडम्बना करते हैं ॥ १९ ॥ सब प्राणियोंमें अवस्थित आत्मारूप मुझ ईश्वरको छोड़ कर जो कोई मूर्खतासे प्रतिमाकी पूजा करता है वह राखमें ही होम करता है ॥ २० ॥ पराये शरीरमें मुझसे द्वेष करनेवाले, अभिमानी, भेदभावपूर्ण

और जीवोंसे वैर बाँधनेवाले पुरुषके मनको शान्ति नहीं प्राप्त होती ॥ २१ ॥ जो व्यक्ति प्राणियोंसे वैर रखता है वह चाहे प्रतिमामें अनेक सामाग्रियों और क्रियाओंसे पूजा करे तो भी मैं उसपर सन्तुष्ट नहीं होता ॥ २२ ॥ अपने कर्म करता हुआ पुरुष तभी तक प्रतिमा आदिमें मेरी पूजा करे, जब तक उसे अपने हृदयमें यह ज्ञान न प्राप्त हो कि मैं सब प्राणियोंमें अवस्थित हूँ ॥ २३ ॥ अपने और दूसरेमें जो कोई जरा भी भेदभावना करता है उस भेदभाव भरे पुरुषको मृत्युसे बहुत ही घोर भय प्राप्त होता है ॥ २४ ॥ अतएव पुरुषका कर्तव्य है कि वह मुझे सब प्राणियोंका अन्तर्य्यामी और सब प्राणियोंमें अवस्थित जानकर दान, मान, मैत्री और समदृष्टिके द्वारा मेरी पूजा करे ॥ २५ ॥

चित्त-शुद्धिके सम्बन्धमें हिन्दूशास्त्रोंसे इस प्रकारकी बहुतसी उक्तियाँ उद्धृत की जासकती हैं; पर वैसा करनेकी कोई जरूरत नहीं जान पड़ती। हिंदुओंको यह स्मरण रखना चाहिए कि चित्तशुद्धिके बिना प्रतिमा-पूजामें कोई धर्म नहीं है। ऐसी अवस्थामें प्रतिमा-पूजा करना व्यर्थकी विडम्बना है।

मनुष्योंको सब प्रवृत्तियोंकी सम्यक् स्फूर्ति, परिणति और सामञ्जस्यके द्वारा यह चित्त-शुद्धि प्राप्त होती है। भक्ति और प्रीति ये दोनों वृत्तियाँ कार्यकारिणी होती हैं। किन्तु केवल कार्यकारिणी वृत्तियोंके अनुशीलनसे धर्मकी प्राप्ति नहीं हो सकती। ज्ञानोपार्जनकी वृत्तियोंके अनुशीलनके बिना धर्मके स्वरूपका ज्ञान नहीं हो सकता। चित्त-रञ्जन करनेवाली वृत्तियोंके अनुशीलनके बिना धर्मके माहात्म्य और सौन्दर्यकी सम्यक् उपलब्धि नहीं होती और चित्तशुद्धिके मार्ग साफ नहीं होते। शारीरिकवृत्तियोंके समुचित अनुशीलनके बिना धर्मानुमोदित कार्योंके उपयोगी क्षमता नहीं पैदा होती और हृदयको भी शान्ति नहीं मिलती। इस कारण सब वृत्तियोंके सम्यक् अनुशीलन और सामञ्जस्यका फल ही चित्तकी शुद्धि है।

सुशिक्षित बंगाली और बँगला भाषा ।

जो लोग बँगला भाषाके ग्रन्थों या सामयिक पत्रोंको प्रकाशित करते हैं उनका विशेष दुर्भाग्य कहना चाहिए। वे चाहे जितना यत्न करें, देशकी शिक्षितमण्डली प्राय: उनकी रचना पढ़नेसे विमुख ही रहती है। अँगरेजी पढ़े लिखे शिक्षित लोगोंने पूर्णरूपसे यह निश्चय कर लिया है कि उनके पढ़नेलायक कुछ भी बँगलाभाषामें नहीं लिखा जा सकता। उनकी समझमें बँगलाभाषाके सभी लेखक या तो विद्या-बुद्धिहीन और लेखचातुरीसे शून्य हैं और या अँगरेजी ग्रन्थोंका अनुवाद करनेवाले हैं। उनको विश्वास है कि जो कुछ बँगलाभाषामें लिखा जाता है वह या तो अपाठ्य होता है और या किसी अँगरेजी ग्रन्थकी छायामात्र होता है। जो कुछ अँगरेजीमें है उसे बँगलामें पढ़कर अपना अपमान करनेकी जरूरत क्या है? सहज ही काले चमड़ेके अपराधमें पकड़े जाकर हम अनेक प्रकारकी सफाई देनेकी चेष्टा करते हैं; फिर बँगला पढ़कर कबूल जवाब क्यों दें?

अँगरेजीके भक्तोंका यह हाल है। उधर संस्कृत जाननेवाले पाण्डित्याभिमानी लोगोंकी भाषा पर जैसी श्रद्धा है उसके सम्बन्धमें अधिक लिखनेकी कुछ आवश्यकता ही नहीं है। जो लोग कामकाजी आदमी हैं उनके लिए सभी भाषायें बराबर हैं। किसी भाषाकी पुस्तक पढ़नेका उन्हें अवकाश ही नहीं है। लड़का स्कूलमें पढ़ता है, पुस्तक पढ़ने और न्यौते—बुलावेमें जानेका काम लड़केके सिर है। इसी कारण बँगला भाषाके ग्रन्थ और पत्र आदि इस समय केवल नार्मल स्कूलके छात्रों, देहाती पाठशालाओंके पण्डितों, नाबालिग कुल-कन्याओं और किसी बेकार रसिक पुरुषके निकट ही आदर पाते हैं। शायद ही दो-एक शिक्षित सदाशय महात्मा किसी बँगलाके ग्रन्थकी भूमिका या विज्ञापन पढ़ लेते हैं, और इतनेहीमें विद्योत्साही कहकर प्रसिद्ध हो जाते हैं।

लिखने—पढ़नेकी कौन कहे, इस समयकी नई पौधके लोग बँगलामें कोई काम ही नहीं करते। वे विद्याकी आलोचना अँगरेजीमें करते हैं। सर्व साधारणके कार्य, मीटिंग, लेक्चर, एड्रेस, प्रोसीडिंग्स आदि सब अँगरेजीमें

होते हैं। अगर दोनों आदमी अँगरेजी जानते हैं तो बातचीत भी अँगरेजीमें की जाती है। कभी सोलहों आने अँगरेजीमें, और कभी बारह आने अँगरेजीमें बातचीत होती है। बातचीत चाहे जिस भाषामें हो, लेकिन चिट्ठीपत्री कभी बँगलामें नहीं होती। हमने अबतक कभी यह नहीं देखा कि कुछ भी अँगरेजी जाननेवाले दो आदमी बँगलामें चिट्ठीपत्री लिखते हों। हमें अब भी यह आशा है कि विशेषरूपसे दुर्गापूजाके मन्त्रआदि भी अँगरेजीमें (तर्जुमा करके) ही पढ़े जायँगे !

इसमें विस्मयकी बात कुछ भी नहीं है। एक तो अँगरेजी राजभाषा है—धन कमानेकी भाषा है, दूसरे उसमें बहुतसी विद्याओंका समावेश है, वही ज्ञानोपार्जनका द्वार है। बंगालियोंने उसे लड़कपनसे पढ़कर दूसरी मातृभाषाका स्थान दे रक्खा है। खासकर अँगरेजीके इस बहुल प्रचारका कारण यही है कि अँगरेजीमें अपना वक्तव्य कहे बिना उसे अँगरेज नहीं समझते। अँगरेजोंके समझे बिना मान-मर्यादा नहीं होती। अँगरेजोंमें मान न मिला तो और लोगोंसे मान मिलना या न मिलना बराबर है। अँगरेजोंने जिसे नहीं सुना वह जंगलमें रोनेके समान है, अँगरेजोंने जिसे नहीं देखा वह राखमें होम करनेके समान निष्फल है।

हम अँगरेजी या अँगरेजोंके द्रोही नहीं है। हमारा भी यह मत है कि अँगरेजोंसे इस देशका जितना उपकार हुआ है उसमें अँगरेजीकी शिक्षाका प्रचार ही प्रधान है। अनन्तरत्नप्रसविनी अँगरेजी भाषाका जितना अनुशीलन हो उतना ही अच्छा है। हमारी यह भी सम्मति है कि समाजकी भलाईके लिए कुछ एक सामाजिक कार्योंका राजभाषामें ही सम्पन्न होना आवश्यक है। हमारी बहुतसी ऐसी बातें हैं जिन्हें हमें राजपुरुषोंको समझाना होगा। वे सब बातें अँगरेजीमें ही कहनी पड़ेंगी। ऐसी बहुतसी बातें हैं जो केवल बंगालियोंके लिए ही नहीं हैं, सारे भारतवर्षको वे बातें सुनानी पड़ेंगी। उन सब बातोंको अँगरेजीमें कहे बिना सारा भारत नहीं समझ सकता। भारतकी अनेक जातियोंका मत सलाह और उद्योग जब तक एक न होगा तबतक भारतकी उन्नति नहीं हो सकती। यह मत, सलाह और उद्योगकी एकता केवल अँगरेजीके ही द्वारा हो सकती है। क्यों कि इस समय संस्कृत

भाषा लुप्तप्राय हो गई है। बंगाली, मराठे, तैलंग, पंजाबी आदिकी साधारण मिलन-भूमि अँगरेजी भाषा है। इसी सूत्रमें भारतकी गाँठ दृढ़ बाँधी जा सकेगी। (इस समय कांग्रेसके द्वारा यह कार्य बहुत कुछ हो रहा है।) इस कारण जितना अँगरेजीका व्यवहार है उतना होता रहे। किन्तु एकदम अँगरेज बननेसे काम नहीं चल सकता। बंगाली कभी अँगरेज नहीं हो सकते। बंगालियोंकी अपेक्षा अँगरेजोंमें अनेक गुण हैं और वे बहुत कुछ सुखी हैं। अगर ये तीन करोड़ बंगाली एकाएक तीन करोड़ अँगरेज बन जा सकते तो कुछ बुरा न था। किन्तु इसकी कुछ भी संभावना नहीं है। हम चाहे जितना अँगरेजी पढ़ें, अँगरेजीमें बातचीत करें और अँगरेजीमें लिखें, लेकिन वह सियारके सिंहकी खाल ओढ़नेके सिवा और कुछ न होगा। जब हम बोलेंगे, तब हमारी असलियत छिपी नहीं रह सकती। पाँच सात हजार नकली साहबोंके सिवा तीन करोड़ अँगरेज कभी नहीं बन सकते। गिलटसे खालिस पीतल अच्छी। पत्थरकी बनी सुन्दर स्त्रीमूर्तिकी अपेक्षा कुरूप जंगली स्त्री गुजरके लिए अच्छी। नकली साहब बननेकी अपेक्षा खालिस बंगाली होना कहीं अच्छा है। अँगरेजी लिखने और पढ़नेवाले सम्प्रदायसे नकली साहबोंके सिवा खालिस बंगाली पैदा होनेकी संभावना नहीं है। जबतक सुशिक्षित और ज्ञानसम्पन्न बंगाली बँगला भाषामें अपने विचारोंको नहीं प्रकट करेंगे, तब तक बंगाली जातिकी उन्नति नहीं हो सकती।

मालूम नहीं, बंगाली लोग इस बातको क्यों नहीं समझते। जो बात अँगरेजीमें लिखी जाती है उसे कितने बंगाली समझ सकते हैं? वह बात अगर बँगलामें लिखी जाय तो कौन बंगाली उसे न समझ सकेगा? अगर कोई यह समझे कि सुशिक्षितोंकी बातें समझना केवल सुशिक्षितोंके लिए ही आवश्यक है, तो वह भारी भ्रममें पड़ा हुआ है। सब बंगालियोंकी उन्नति हुए बिना देशकी कुछ भी भलाई नहीं हो सकती। देशके सब लोग अँगरेजी नहीं समझते, और उनके कभी समझनेकी आशा भी नहीं की जा सकती। अतएव यह निर्विवाद है कि जो बात बँगलामें नहीं कही जायगी उसे तीन करोड़ बंगाली कभी सुन या समझ नहीं सकते। इस समय भी नहीं सुनते और आगे भी कभी नहीं सुन सकते। जिस बातको देशके सब लोग नहीं सुनते या समझते, उससे समाजकी कोई विशेष उन्नति नहीं हो सकती।

इस समय एक बात यह उठी है कि केवल उच्च श्रेणीके लोगोंके सुशिक्षित होनेकी जरूरत है, निम्न श्रेणीके लोगोंको अलग शिक्षा देनेकी जरूरत नहीं है। वे आप ही उच्च श्रेणीके द्वारा विद्वान् हो उठेंगे। जैसे किसी सोखनेवाले पदार्थके ऊपर पानी डालनेसे उसके नीचेकी तहतक भीग जाती है वैसे ही बंगालीजातिरूप शोषक पदार्थकी ऊपरकी तह पर विद्यारूप जल डालनेसे उसकी नीचेकी तह—अर्थात् निम्नश्रेणी—भी भीग जायगी। जलकी बात होनेसे यह उक्ति निःसन्देह कुछ सरस जान पड़ती है। अँगरेजी शिक्षाके साथ ऐसा जलयोग हुए बिना हमारे देशकी इतनी उन्नतिकी आशा कभी नहीं की जा सकती थी। जल भी असंख्य है और सोखनेवाले भी असंख्य हैं। अबतक सूखे ब्राह्मण पण्डित देशको उजाड़ रहे थे, अब नई पौधके लोग जलयोगके द्वारा देशका उद्धार करेंगे। क्योंकि उनमें छिद्र होनेके कारण निम्नश्रेणीके लोग तक सरस हो उठेंगे!

किन्तु हमें यह आशा नहीं है कि यह जलमयी विद्या यहाँतक कर सकेगी। विद्या पानी या दूध नहीं है कि ऊपर डालनेसे नीचेकी तह तक असर करेगी। केवल इतना कहा जा सकता है कि किसी जातिका एक हिस्सा पढ़ा लिखा सुशिक्षित होनेसे उसके संसर्गसे अन्य अंशकी भी श्रीवृद्धि हो सकती है। किन्तु यदि जातिके दोनों हिस्सोंकी भाषामें ऐसा भेद हो कि विद्वानकी भाषाको मूर्ख न समझ सके तो संसर्गका फल कैसे हो सकता है?

मुख्य बात यह है कि इस समय हम लोगोंके भीतर उच्च श्रेणी और निम्न श्रेणीके बीच परस्पर कुछ भी सहृदयता नहीं है। उच्चश्रेणीके सुशिक्षित लोग मूर्ख दरिद्र लोगोंके किसी दुःखसे दुखी नहीं होते। मूर्ख दरिद्र-लोग धनी और सुशिक्षित लोगोंके किसी सुखसे सुखी नहीं हैं। इस समय यह परस्पर सहृदयताका अभाव ही देशोन्नतिके लिए प्रधान रुकावट है। इस सहृदयताके न होनेसे ही दोनों श्रेणियोंमें दिन दिन भारी अलगाव होता जाता है। अगर उच्च श्रेणी और निम्न श्रेणीमें ऐसा अलगाव ह तो फिर संसर्गका फल क्या होगा? जो अलग है उसके साथ संसर्ग कैसा? अगर शक्तिशाली लोग अशक्त लोगोंके दुःखमें दुख और सुखमें सुखी न हुए तो फिर

उनको उबारेगा कौन ? और, अगर सर्वसाधारणका उद्धार न हुआ तो फिर शक्तिशाली लोगोंकी उन्नति कहाँ हुई ? ऐसा तो कभी किसी देशमें नहीं हुआ कि निम्नश्रेणीके लोग सदा एक अवस्थामें रहें, और उच्चश्रेणीके लोगोंकी निरन्तर श्रीवृद्धि होती रहे। बल्कि जिस जिस समाजकी विशेष उन्नति हुई है उस उस समाजमें दोनों श्रेणीके लोग समकक्ष, हिलेमिले और सहृदयतासम्पन्न ही देखे जाते हैं। जबतक ऐसा नहीं हुआ—जबतक दोनोंमें अन्तर बना रहा, तबतक उन्नति नहीं हो सकी। जब दोनों श्रेणियोंमें सामञ्जस्य हुआ तभीसे श्रीवृद्धिका श्रीगणेश हुआ। रोम, एथेन्स, इंग्लैण्ड, अमेरिका आदि देश इसके उदाहरण हैं। इन देशोंके इतिहासको सभी लोग अच्छी तरह जानते हैं। इसके विपरीत समाजके भीतर भिन्न भिन्न श्रेणियोंमें अलगाव रहनेसे जैसा अनिष्ट होता है उसके उदाहरण स्पार्टा, फ्रान्स, मिसर और भारतवर्ष आदि देश हैं। एथेन्स और स्पार्टा, ये दोनों प्रतियोगी नगर थे। एथेन्समें सब समान थे; स्पार्टामें एकजाति प्रभु और एक जाति दास थी। एथेन्ससे पृथ्वीकी सभ्यताकी सृष्टि हुई। जिस विद्याके प्रभावसे आधुनिक यूरोपका इतना गौरव है उसका जन्मस्थान एथेन्स है। और, स्पार्टा कुल-क्षयके कारण विध्वंसको प्राप्त हो गया। फ्रान्समें इसी अलगावके कारण सन् १७८९ में जो भारी गदर शुरू हुआ उसका अन्त अभी-तक नहीं हुआ। यद्यपि उसका अन्तिम फल भलाई है, तथापि असाधारण समाज पीड़ाके बाद उस भलाईके लक्षण देख पड़ते हैं। हाथ-पैर काटकर रोगीको आरोग्य करनेके समान इस गदरसे समाजकी भलाई हो रही है। इस भयानक घटनाको सभी लोग अच्छीतरह जानते हैं। मिसरमें सर्वसाधारणके साथ धर्मयाजकोंका अलगाव रहनेके कारण असमयमें ही समाजकी उन्नतिका गला घुट गया। प्राचीन भारतमें वही काम वर्णगत अलगावने किया। वर्णगत अलगावके कारण उच्चवर्ण और नीचवर्णमें ऐसा भारी भेद पड़ गया कि वैसा भेद किसी देशमें नहीं पड़ा और वैसा अनिष्ट भी किसी देशमें नहीं हुआ। यहाँ पर उस अनिष्टका विस्तृत वर्णन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इस समय वर्णगत अलगाव बहुत कुछ कम हो आया है। लेकिन दुर्भाग्यवश शिक्षा और सम्पत्तिके कारण दूसरे प्रकारका अलगाव दिनोंदिन बढ़ता जाता है।

उस अलगावका विशेष कारण भाषाका भेद है। सुशिक्षित बंगालियोंके हृदयके भाव साधारणतः जबतक बँगला भाषामें प्रकाशित न होंगे तबतक उन्हें साधारण बंगाली कभी समझ न सकेंगे। वे न उनको पहचान सकेंगे और न उनके संसर्गमें आ सकेंगे, अर्थात् उनमें हेलमेल न बढ़ सकेगा। पढ़ने या सुननेवालोंके प्रति सहृदयता ही लेखक या व्याख्यानदाताका स्वाभाविक स्वयंसिद्ध गुण है। लिखने या बोलनेमें यह गुण आप ही आजाता है। जहाँ लेखक या वक्ताको निश्चितरूपसे यह मालूम है कि उसकी जातिके साधारण लोग उसके पाठक या श्रोता नहीं हैं, वहाँ उसके साथ सर्व साधारणकी सहृदयताका अभाव आप ही हो जाता है।

जिन कारणोंसे सुशिक्षित बंगालियोंको बँगलामें ही लिखना पढ़ना चाहिए उन्हें हमने विस्तारपूर्वक कह दिया। किन्तु रचनामें सुशिक्षित बंगालियोंके बँगला भाषाका व्यवहार करनेमें एक विशेष विघ्न है। सुशिक्षित लोग बँगलाभाषाको नहीं पढ़ते। सुशिक्षित लोग जिसे नहीं पढ़ते उसे सुशिक्षित लोग लिखना नहीं चाहते।

"आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।"

हम सब लोगोंकी दृष्टि स्वार्थपर है। लेखकमात्रको यशकी अभिलाषा होती है। यश सुशिक्षितोंसे ही प्राप्त होता है। अन्य लोग अच्छे बुरेका विचार नहीं कर सकते। वे अगर यश भी देते हैं तो उससे रचनाका परिश्रम सार्थक नहीं जान पड़ता। जब तक सुशिक्षित लोग नहीं पढ़ेंगे तबतक सुशिक्षित लोग नहीं लिखेंगे।

इधर किसी सुशिक्षित बंगालीसे अगर पूछा जाता है कि "महाशय, आप बंगाली होकर भी बँगलाके ग्रन्थों और पत्रोंसे इतने विमुख क्यों हैं?" तो वह उत्तर देता है कि "बँगलाके किस ग्रन्थ या पत्रका आदर करें? अगर पढ़ने लायक कुछ मिले तो हम उसे अवश्य पढ़ें।" हम मुक्तकण्ठ होकर इस बातको स्वीकार करते हैं कि इस बातका कुछ भी उत्तर नहीं है। जो कुछ बँगलाके ग्रन्थ पढ़ने योग्य हैं वे दो ही तीन दिनमें पढ़ डाले जा सकते हैं। उसके बाद दो-तीन वर्ष तक प्रतीक्षा किये बिना पढ़नेके योग्य बँगलाका कोई ग्रन्थ नहीं मिल सकता।

इस प्रकार सुशिक्षितोंका बँगलाके प्रति अनादरका भाव ही बँगलाकी श्रीवृद्धि नहीं होने देता। सुशिक्षित बंगाली बँगला पढ़ते नहीं, इस कारण सुशिक्षित बंगाली बँगलामें नहीं लिखते हैं। और, उधर सुशिक्षित बंगाली लिखते नहीं, इस कारण सुशिक्षित बंगाली बँगला पढ़ते नहीं। इस कारण यह आवश्यक है कि सुशिक्षित बंगाली लोग एक साथ ही बँगला लिखना और पढ़ना शुरू करें। तभी बँगलाकी और साथ ही बंगालकी श्रीवृद्धि होगी। ※

गीति-काव्य।

काव्य किसे कहते हैं, यह समझानेके लिए बहुत लोगोंने चेष्टा की है। किन्तु किसीकी चेष्टा सफल हुई है या नहीं, इसमें सन्देह है। यह स्वीकार करना होगा कि दो व्यक्तियोंने कभी एक प्रकारका अर्थ नहीं किया। किन्तु काव्यके यथार्थ लक्षणके सम्बन्धमें मतभेद रहने पर भी काव्य एक ही पदार्थ है, इसमें सन्देह नहीं। चाहे कोई समझा सके या न समझा सके, वह पदार्थ क्या है, इसका अनुभव हर एक काव्यप्रेमी एक प्रकारसे कर सकता है।

काव्यका लक्षण चाहे जो हो, हमारी समझमें बहुतसे ग्रन्थ, जिन्हें साधारणतः काव्य नहीं कहते, वे भी काव्य हैं। महाभारत और रामायण इतिहास कहकर प्रसिद्ध होनेपर भी काव्य हैं। श्रीमद्भागवत पुराण कहकर प्रसिद्ध होनेपर भी अंश-विशेषमें काव्य है। स्काटके उपन्यास हमारी समझमें उत्कृष्ट-काव्य हैं। यह कहनेकी जरूरत ही नहीं कि हम नाटकोंको काव्यके अन्तर्गत समझते हैं।

भारतवर्षीय और पाश्चात्य आलंकारिकोंने काव्यके अनेक श्रेणी-विभाग किये हैं। उनमें अनेक विभाग अनर्थक जान पड़ते हैं। उन लोगोंकी

※ जो बातें बंकिम बाबूने बँगलाके सम्बन्धमें लिखी हैं वे ही सब बातें हिन्दीके बारेमें भी लिखी जा सकती हैं। इसी कारण यह लेख भी शामिल कर लिया गया है।—प्रकाशक।

कही हुई तीन श्रेणियाँ ले लेनेसे ही काम चल सकता है। यथा एक दृश्य-काव्य, अर्थात् नाटक आदि। दूसरे आख्यानकाव्य, अथवा महाकाव्य। रघुवंशकी तरह वंशावलीके उपाख्यान, रामायणकी तरह व्यक्तिविशेषके चरित, माघकी तरह घटना-विशेषके विवरण—सभी इसके अन्तर्गत हैं। वासवदत्ता, कादम्बरी आदि गद्यकाव्य और आधुनिक उपन्यास इसी श्रेणीके अन्तर्गत हैं। तीसरे खण्डकाव्य। जो काव्य प्रथम और द्वितीय श्रेणीके अन्तर्गत नहीं है वे खण्डकाव्य हैं।

देखा जाता है कि इन त्रिविध काव्योंके रूपमें बहुत विषमता है। किन्तु रूपकी विषमता यथार्थ विषमता नहीं है। दृश्यकाव्य सर्वत्र साधारणतः कथोपकथनके रूपमें ही रचित होते हैं और रंगभूमिमें उनका अभिनय हो सकता है। किन्तु यह बात नहीं है कि जो कुछ कथोपकथनके रूपमें हो और जिसका अभिनय किया जा सके वही नाटक या उस श्रेणीका काव्य मान लिया जाय। इस देशके लोगोंको साधारणतः ऊपर कही गई भ्रान्त धारणा है। इसीसे बँगला, गुजराती, मराठी आदि भाषाओंमें कथोपकथनके रूपमें रचित असंख्य पुस्तकें नाटकके नामसे प्रकाशित होकर पढ़ी जाती हैं और उनका अभिनय भी होता है। वास्तवमें उनमेंसे अनेक पुस्तकें नाटक नहीं हैं। पाश्चात्य भाषाओंमें अनेक उत्कृष्ट काव्य हैं जो नाटककी तरह कथोपकथनके रूपमें लिखित हैं। किन्तु वास्तवमें वे नाटक नहीं हैं। 'Comus', 'Manfred', 'Faust' इस बातके उदाहरण हैं। बहुत लोग शकुन्तला और उत्तररामचरितको भी नाटक कहकर स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं अँगरेजी और ग्रीक भाषाके सिवा किसी भाषामें प्रकृत नाटक नहीं हैं। गेटे कह गये हैं कि यथार्थ नाटक होनेके लिए बातचीतका ग्रन्थन और अभिनयकी उपयोगिता अत्यन्त आवश्यक नहीं है। हमारी समझमें 'Bride of Lammermoor' को नाटक कहनेसे कुछ अन्याय न होगा। इससे जान पड़ता है कि आख्यान-काव्य भी नाटकाकारमें प्रणीत हो सकता है। अथवा गीत-परंपरामें सन्निवेशित होकर गीतिकाव्यका रूप धारण कर सकता है। बँगलाभाषामें शेषोक्तविषयके उदाहरणका अभाव नहीं है। यह भी देखा गया है कि अनेक खण्डकाव्य महाकाव्यके आकारमें रचे गये हैं। यदि किसी एक सामान्य उपाख्या-

नके सूत्रमें ग्रथित काव्यमालाको आख्यानकाव्य नाम देना उचित समझा जाय तो 'Excursion,' 'Childe Harold' को यह नाम दिया जा सकता है। किन्तु हमारी समझमें ये दोनों काव्य खण्डकाव्यके संग्रह मात्र हैं।

खण्डकाव्यके भीतर हमने अनेक प्रकारके काव्योंको स्थान दिया है। उनमेंसे एक प्रकारका काव्य प्रधानता प्राप्त करके यूरोपमें गीतिकाव्य (Lyric) के नामसे प्रसिद्ध हुआ है। इस प्रबन्धमें हम उसी श्रेणीके काव्यकी बात कहना चाहते हैं।

यूरोपमें किसी वस्तुको एक अलग नाम प्राप्त होनेसे हमारे देशमें भी उसका एक अलग नाम रखनेकी कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। जहाँ वस्तुमें कोई विभिन्नता नहीं है वहाँ नामकी विभिन्नता अनर्थक और अनिष्टजनक है। किन्तु जहाँ वस्तुयें जुदी जुदी हैं वहाँ नाम भी अलग होना आवश्यक है। यदि ऐसी कोई वस्तु हो कि उसके लिए गीति-काव्य नाम धारण करना आवश्यक हो तो अवश्य यूरोपके निकट हमको ऋणी होना पड़ेगा।

गीत मनुष्यके लिए एक स्वाभाविक वस्तु है। बातसे केवल मनका भाव-व्यक्त किया जा सकता है, किन्तु स्वरके ढंगसे वह स्पष्ट होता है। 'आह' यह शब्द स्वरके ढंगके अनुसार दुःखबोधक हो सकता है, विरक्ति-वाचक हो सकता है और व्यंग्योक्ति भी हो सकता है। 'तुम्हें देखे बिना मेरे प्राण जाने लगे' यह कहनेसे दुःख प्रकट किया जासकेगा; परन्तु यही उपयुक्त स्वरभंगीके साथ बोलनेसे सौगुणा दुःख प्रकट होगा। इसी स्वर-वैचित्र्यका परिणाम संगीत है। अतएव मनका वेग प्रकाशित करनेके आग्रहकी अधिकतासे मनुष्य सङ्गीत-प्रिय है और उसकी साधनामें आपहीसे यत्नशील है।

किन्तु अर्थयुक्त वाक्यके बिना चित्तका भाव व्यक्त नहीं होता। अतएव संगीतके साथ वाक्यका संयोग आवश्यक है। इसी संयोगसे उत्पन्न पदको गीत कहते हैं।

गीतके लिए वाक्य-विन्यास करनेसे देखा जाता है कि किसी नियमके अधीन वाक्य-विन्यास करनेसे ही गीतकी रचना सुडौल हो जाती है। और उन्हीं नियमोंके ज्ञानसे छन्दोंकी सृष्टि हुई है।

गीतके सुडौल होनेके लिए दो बातोंकी आवश्यकता है। स्वर-चातुरी और शब्द-चातुरी। इन दोनोंकी अलग अलग क्षमता होती है। दोनों क्षमतायें एक ही मनुष्यमें अकसर नहीं देखी जातीं। सुकवि और सुगायक होना हरएकको नसीब नहीं होता।

इसी कारण एक आदमी गीतकी रचना करता है और दूसरा गाता है। इस प्रकार गीतसे गीति-काव्य अलग हो जाता है। गीत होना ही गीति-काव्यका आदिम उद्देश्य है। किन्तु जब देखा गया कि गीत न होनेसे भी केवल पद्यरचना ही आनन्ददायक है और सम्पूर्ण रूपसे मनोभावको व्यक्त कर सकती है तब गीतके उद्देश्य पर ध्यान न देकर अनेक गीतिकाव्योंकी रचना होने लगी।

अतएव गीतका उद्देश्य ही जिस काव्यका उद्देश्य है वही गीति-काव्य है। वक्ताके भावोच्छ्वासको व्यक्त करना ही जिसका उद्देश्य है वही काव्य गीति-काव्य है।

जब हृदय किसी विशेष भावसे आच्छन्न होता है, वह स्नेह, शोक, भय आदिमेंसे चाहे जो हो, तब उस भावका संपूर्ण अंश कभी व्यक्त नहीं होता। कुछ व्यक्त होता है और कुछ नहीं व्यक्त होता। जो व्यक्त होता है वह बातचीत और क्रियाके द्वारा। वही बातचीत और क्रिया नाटककारकी सामग्री है। जो उसमें अव्यक्त रहता है वही गीतिकाव्य रचनेवालेकी सामग्री है। जो साधारणतः नहीं देख पड़ता, अदर्शनीय और अन्यके अनुमानमें भी आनेवाला नहीं है, अर्थात् भावयुक्त मनुष्यके रुद्ध हृदयमें उच्छ्वसित है उसीको व्यक्त करना गीति-काव्य-लेखकका काम है। महाकाव्यका विशेष गुण यह है कि कविको दोनों तरहके अधिकार रहते हैं, वक्तव्य और अवक्तव्य दोनों उसके अधीन होते हैं। महाकाव्य, नाटक और गीति-काव्य, इन तीनोंमें यही एक प्रधान प्रभेद जान पड़ता है। अनेक नाटककार इस भेदको नहीं जानते। और इसीसे उनकी नायिका और नायकके चरित्र अप्राकृत और बहुतसे वागाडम्बरसे परिपूर्ण हो जाते हैं। सत्य है कि गीति-काव्य-लेखकको भी वाक्यके द्वारा ही रसकी उद्भावना करनी

होती है और नाटककारका भी वही वाक्य सहाय है; किन्तु जो वाक्य वक्तव्य है उसीको नाटककार पात्रके मुखसे कहला सकता है। जो अवक्तव्य है उसपर गीतिकाव्यकारका ही अधिकार है।

उदाहरणके बिना इस बातको बहुत लोग समझ न सकेंगे। सीता-विसर्जनके समय और उसके बाद भवभूतिके नाटक और वाल्मीकिकी रामायणमें जो रामके व्यवहारका तारतम्य देखा जाता है, उसकी आलोचना करनेसे यह बात समझमें आजायगी। रामके चित्तमें जिस समय जिस भावका उदय हुआ उसे उसी क्षण भवभूतिकी लेखनीने लिख डाला। उन्होंने अपने नाटकमें वक्तव्य और अवक्तव्य दोनों तरहकी बातोंका समावेश किया है। उन्होंने ऐसा करके नाटककारके योग्य काम नहीं किया, वे गीति-काव्यकारके अधिकारमें हस्तक्षेप करने चले हैं। किन्तु वाल्मीकिने वैसा न करके केवल रामके कार्योंका ही वर्णन किया है और उन कार्योंके सम्पादनके लिए जितना भाव व्यक्त करनेकी आवश्यकता थी उतना ही भाव व्यक्त किया है। भवभूतिरचित नाटकमें वर्णित रामविलापके साथ शेक्सपियरके ‘ उथेलो ’ नाटकमें डेस्डिमोना-वधके उपरान्त उथेलोके विलापकी विशेषरूपसे तुलना करके देखनेसे भी यह बात समझमें आजायगी। शेक्सपियरने उस समय उथेलोके मुखसे ऐसी कोई बात नहीं कहलाई, तत्कालीन कार्यके लिए या अन्यकी बातके उत्तरमें, जिसके व्यक्त करनेका प्रयोजन न था। वक्तव्यसे वे चावल भर भी आगे नहीं बढ़े। शेक्सपियरने भवभूतिकी तरह नायकके हृदयका अनुसन्धान करके उसके भीतरसे एक एक भावको खींचकर, एक एक गिनकर, कतारकी कतार सजाकर पाठकोंके आगे खड़ा नहीं कर दिया; तथापि यह कौन कह सकता है कि भवभूतिने रामके मुखसे जो दुःख व्यक्त किया है उससे हजारगुना दुःख शेक्सपियरने उथेलोके मुखसे नहीं व्यक्त कराया।

यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि जो वक्तव्य है वह दूसरेसे सम्बन्ध रखता है या किसी कार्यके लिए होता ह और जो अवक्तव्य है वह अपने चित्तसे सम्बन्ध रखता है—उसका उद्देश्य केवल कह डालना भर है। ऐसी बात नाटकमें होनी ही न चाहिए—यह मैं नहीं कहता।

वल्कि कभी कभी तो इसका होना आवश्यक होता है। किन्तु यही कभी नाटकका उद्देश्य नहीं हो सकता। नाटकके उद्देश्यके अनुकूल होनेपर प्रयोजनके अनुसार कहीं कहीं इसका भी सन्निवेश होता है।
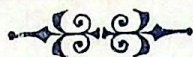
प्रकृत और अतिप्रकृत।

काव्यरसकी सामग्री मनुष्यका हृदय है। जो मनुष्यके हृदयका अंश अथवा उसका सञ्चालक है उसके सिवा और कुछ भी उसके कामके लायक नहीं है। किन्तु कभी कभी महाकवि लोग अमानुषिक अलौकिक वस्तुका भी वर्णन करने बैठे हैं। उनमेंसे अधिकांश वर्णन नरचरित्रके चित्रके साथी भर हैं। महाभारत, इलियड आदि प्राचीन काव्य इसी प्रकार लौकिक नायक नायिकाओंके चित्रके साथी अलौकिक देवचरित्रोंके वर्णनसे परिपूर्ण हैं। देवचरित्रके वर्णनमें रस-हानिका विशेष कारण यह है कि जो कुछ मनुष्य चरित्रके अन्तर्गत नहीं, उसके साथ मनुष्य-लेखक या मनुष्य-पाठकका मन मेल ही नहीं खा सकता। अगर हम कहीं पढ़ें कि कोई मनुष्य यमुनाके एक गहरे पानीसे भरे कुण्डमें डूब गया है और अजगर सर्पने उसपर आक्रमण किया है तो हमारे मनमें भयका सञ्चार होगा। हमारा जाना हुआ है कि ऐसी विपत्तिमें पड़े हुए मनुष्यके मरनेकी ही संभावना है। अतएव उसकी मृत्युकी आशंकासे हम डरते और दुःखित होते हैं—कविके वाञ्छित रसकी अवतारणा होती है, उसका यत्न सफल होता है। किन्तु यदि हम पहलेसे ही जानते हों कि डूबा हुआ मनुष्य वास्तवमें मनुष्य नहीं—देवता है, वह जल या सर्पकी शक्तिके अधीन नहीं है, इच्छामय और सर्वशक्तिमान् है, तब फिर हमें भय या कुतूहल नहीं होता। क्यों कि हम पहलेसे ही जानते हैं कि यह अजेय अविनश्वर पुरुष अभी कालियदमन करके जलसे निकल आवेगा।

ऐसी अवस्थामें भी जो पहलेके कविगण देवचरित्र या अमानुषिक चरित्रकी सृष्टि करके लोकरञ्जनमें समर्थ हुए हैं उसका एक विशेष कारण है।

उन्होंने देवचरित्रको मनुष्यचरित्रके अनुकरण पर वर्णन किया है, इसी कारण उनके पढ़ने सुननेमें पाठकों और श्रोताओंकी सहृदयता बनी रहती है। मनुष्य जैसे राग-द्वेष आदिके वशीभूत हैं, जैसे सुखोंकी अभिलाषा करते हैं, दुःखको अप्रिय समझते हैं, आशाओं पर जैसे लुब्ध रहते हैं, सौन्दर्यपर मुग्ध होते हैं, पश्चात्ताप करते हैं, वैसे ही पूर्व कवियोंके वर्णित मनुष्य-प्रकृति देवता भी हैं। श्रीकृष्णचन्द्र, जगदीश्वरके अंशावतार या पूर्णावतार माने जाने पर भी, मनुष्यकी तरह मनुष्यधर्मावलम्बी हैं। मानव-चरित्र-गत ऐसी कोई उत्कृष्ट मनोवृत्ति नहीं है जिसे भागवतके लेखकने कृष्णचरित्रमें अंकित न किया हो। इस मानुषिक चरित्रके साथ अमानुषिक बल और बुद्धिका संयोग होनेसे चित्रकी मनोहरता और भी बढ़ गई है। क्योंकि कविने उसमें मानुषिक बल-बुद्धिकी सुन्दरताके चरम उत्कर्षकी सृष्टि की है। काव्यमें अतिप्रकृतको स्थान देनेका उद्देश्य और उपकार यही है कि वे प्रकृतके नियम ही कविकी अतिप्रकृत सृष्टिके नियामक होते हैं। ऐसा ही होना उचित भी है।

एक संस्कृतमें और एक अँगरेजीमें ऐसा महाकाव्य है कि देवचरित्र और अतिप्रकृतचरित्र उसके आनुषंगिक नहीं, मूल विषय हैं। संस्कृतका काव्य 'कुमारसम्भव' और अँगरेजीका 'Paradise Lost' है। मिल्टनने Paradise Lost में देवप्रकृति ईश्वरविद्रोही शैतानको अनुचरवर्गसहित नायक बनाया है। जगदीश्वरके साथ उसके विरोध और जगदीश्वर तथा उसके अनुचरोंके साथ उसके युद्धका वर्णन है। मिल्टनने किसी भी पक्षको पूर्णरूपसे मनुष्यप्रकृतिविशिष्ट नहीं दिखलाया। अतएव वे काव्यरसकी अति उत्कृष्ट अवतारणामें कृतकार्य होकर भी लोगोंके मनोरंजनमें वैसी सफलता नहीं प्राप्त कर सके। Paradise Lost अति उत्कृष्ट महाकाव्य होनेपर भी, प्रायः कोई उसे आदिसे अन्ततक नहीं पढ़ता। उसको इस तरह पढ़नेमें जी ऊब उठता है। मिल्टन ऐसे प्रथम श्रेणीके कविकी रचना न होकर अगर यह मध्यम श्रेणीके किसी कविकी रचना होती तो शायद कोई भी इसे न पढ़ता। इसका कारण यही है कि मनुष्य-चरित्रसे भिन्न देवचरित्रके पढ़नेमें मनुष्यका मन नहीं लगता। इस काव्यमें

जहाँ आदम और ईश्वरकी कथा है वहीं स्थान अधिकतर सुखदायक है। किन्तु ये काव्यके प्रकृत नायक-नायिका नहीं हैं—इनका उल्लेख आनुषंगिक है। आदम और ईश्वर प्रकृत मनुष्य-प्रकृति थे। वे आदिम मनुष्य, पार्थिव सुख-दुःखसे मुक्त निष्पाप थे। जिन शिक्षाओंके गुणसे मनुष्य मनुष्य होता है उनमेंसे कोई शिक्षा उन्हें मिली नहीं थी। अतएव यह कहना ठीक है कि इस काव्यमें प्रकृत मनुष्यचरित्रका वर्णन ही नहीं किया गया।

कुमारसंभवका कोई पात्र मनुष्य नहीं है। जो प्रधान नायक हैं वे स्वयं परमेश्वर हैं। नायिका परमेश्वरी हैं। इनके सिवा पर्वतराज, उनकी स्त्री, ऋषि, ब्रह्मा, इन्द्र, रति, काम आदि सब देव, देवी हैं। वास्तवमें इस काव्यका तात्पर्य बहुत गूढ़ है। संसारमें दो संप्रदायके लोग सदा परस्पर झगड़ा करते हैं। एक इन्द्रियपरायण, ऐहिक सुखमात्रके अभिलाषी, परलोककी चिन्ता न करनेवाले और दूसरे विषयोंसे विरक्त, सांसारिक सुखमात्रके विद्वेषी, ईश्वरचिन्तामें मग्न। एक संप्रदाय केवल शारीरिक सुखको सारांश समझता है और दूसरा संप्रदाय शारीरिक सुखके साथ अनुचित द्वेष रखता है। वास्तवमें देखा जाय तो दोनों संप्रदायोंके लोगोंकी भ्रान्त धारणा है। जो ईश्वरवादी हैं उन्हें ईश्वरकी दी हुई इन्द्रियोंको अमंगलकर या अश्रद्धेय समझना अनुचित है। शारीरिक भोगकी अधिकता ही दूषणीय है। परिमित शारीरिक सुख तो संसारके नियमोंकी और संसारकी रक्षाका कारण है। वह ईश्वरका आदेश और धर्मको पूर्ण करनेवाला है। शारीरिक और पारलौकिक सुखके परिणयके गीत गाना ही कुमारसंभव काव्यका उद्देश्य है। पार्थिव पर्वतसे उत्पन्न उमा ही 'शरीर' का रूप हैं और तपस्वी महादेव पारलौकिक शान्तिकी प्रतिमा हैं। शान्ति पानेकी आकांक्षामें उमाने पहले कामदेवकी सहायता की, किन्तु उपाय निष्फल हुआ। इन्द्रिय-सेवाके द्वारा शान्ति नहीं प्राप्त होती। अन्तको अपने चित्तको शुद्ध कर इन्द्रियासक्तिरूप मलको चित्तसे दूर करके जब उमाने शान्तिमें मन लगाया तब उन्हें शान्ति प्राप्त होगई। सांसारिक सुखके लिए चित्तशुद्धिकी आवश्यकता है। चित्तशुद्धि रहनेसे ऐहिक और पारलौकिकमें परस्पर विरोध नहीं होता, दोनों परस्पर एक दूसरेकी सहायता करते हैं।

इसी प्रकार मनोवृत्तियोंको लेकर कविने नायक-नायिका बना कर लोगोंकी प्रीतिके लिए लौकिक देवताओंके नामसे उनका परिचय दिया है। किन्तु देवचरित्रके प्रणयनमें कालिदासने मिल्टनकी अपेक्षा अधिक कौशल दिखाया है। कवित्वके हिसाबसे Paradise Lost की अपेक्षा कुमारसंभवका बहुत ऊँचा दर्जा है। हमारी समझमें कुमारसंभवके तृतीय-सर्गकी कविताकी बराबरी करनेवाली कविता किसी और भाषाके किसी महाकाव्यमें नहीं है। किन्तु कवित्वकी बात छोड़ देनेपर केवल कौशलके लिए भी मिल्टनकी अपेक्षा कालिदास अधिक प्रशंसाके पात्र हैं। Paradise Lost पढ़नेमें श्रम जान पड़ता है और कुमारसंभवको आदिसे अन्ततक वारंवार पढ़नेसे भी तृप्ति नहीं होती। इसका कारण यही है कि कालिदासने देवचरित्रको मनुष्यचरित्रके साँचेमें ढालकर उसमें अमित माधुर्य भर दिया है। उमा आदिसे अन्ततक मानवी हैं, कहींपर तिलभर भी उनमें देवभाव नहीं झलकता। उनकी माता मेना मानवी माताके समान हैं। 'पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवम्' इत्यादि श्लोकार्धके साथ माण्टेगूकी कही 'Like the bud bit by an envious worm' इस उपमाकी तुलना कीजिए। देखिएगा, उमाकी माता और रोमियोके पिता एक ही प्रकृतिके—सर्वथा मनुष्य हैं। मेना पत्थरके पहाड़की स्त्री हैं, पर उनका हृदय कुलकामिनीयोंके समान कुसुमसुकुमार है।

इसलिए अतिप्रकृत जबतक प्रकृतके अनुकरणपर न होगा तबतक वह उपयोगी नहीं हो सकता।

आर्यजातिका सूक्ष्म शिल्प ।

कुछ लोग ऐसे हैं जो कहते हैं कि इस संसारमें सुख नहीं है, वनमें चलो, भोग समाप्त करके मुक्ति या निर्वाण प्राप्त करो। और कुछ लोग ऐसे हैं जो कहते हैं कि संसार सुखमय है, वञ्चकोंकी वञ्चना पर ध्यान न देकर खाओ, पियो, सोओ। जो लोग सुखके अभिलाषी हैं उनमें भी अनेक मत हैं। कोई कहता है धनमें सुख है, कोई कहता है मनमें सुख है। कोई धर्ममें सुख और कोई अधर्ममें सुख मानता है। किसीको कार्यमें सुख है, किसीको ज्ञानमें सुख है। किन्तु ऐसा मनुष्य एक भी नहीं देख पड़ता जो सौन्दर्यमें सुख न मानता हो। संसारमें सब सुन्दरी स्त्रीकी कामना करते हैं, सुन्दरी कन्याका मुख देखकर प्रसन्न होते हैं, सुन्दर बालककी ओर देखकर विमुग्ध होते हैं, सुन्दर बहूके लिए बड़ी कोशिश करते हैं। सुन्दर फूल चुनकर अपने पास रखते हैं। घोर परिश्रम करके जो धन पैदा करते हैं उसे खर्च करके सुन्दर घर बनवाते हैं और उसमें सुन्दर सामान रखते हैं—इसके लिए ऋणी भी हो जाते हैं। सर्वथा सुन्दर सजधजसे आप सुन्दर बनना चाहते हैं। चिड़ियातक सुन्दर देखकर पालते हैं, सुन्दर वृक्षोंसे सुन्दर बाग लगाते हैं। सुन्दर मुखकी सुन्दर हँसी देखनेके लिए सुन्दर स्वर्ण और रत्नके आभूषण सुन्दरीको पहनाते हैं। सभी नित्य सौन्दर्य-की तृष्णामें चूर रहते हैं। किन्तु कभी किसीने इधर अधिक ध्यान न दिया होगा, इसीसे ये बातें यहाँ पर इतने विस्तारसे कही गई हैं।

यह सौन्दर्य-तृष्णा जैसी प्रबल है वैसी ही प्रशंसनीय और परिपोषणीय भी है। मनुष्यके जितने सुख हैं उनमें यही सुख सबसे श्रेष्ठ है। क्योंकि पहले तो यह पवित्र, निर्मल और पापके संसर्गसे शून्य है। सौन्दर्यका उपभोग केवल मानसिक सुख है—इन्द्रियसुखके साथ इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यह सच है कि अकसर सुन्दर वस्तुका इन्द्रिय-तृप्तिके साथ सम्बन्ध होता है; किन्तु सौन्दर्यसे उत्पन्न सुख इन्द्रियतृप्तिसे भिन्न है। रत्नजटित सोनेके गिलास या कटोरीमें जल पीनेसे जिस तरह तुम्हारी प्यास जाती रहेगी उसी तरह भद्दे बने हुए मिट्टीके कुल्हड़में जल पीनेसे भी

तुम्हारी प्यास मिट जायगी। स्वर्णपात्रमें जल पीनेका जो अतिरिक्त सुख मिलता है वह सौन्दर्य-जनित मानसिक सुख है। स्वर्णपात्रमें अपने जल पीनेके अहंकारका सुख उसके साथ मिला हुआ अवश्य होता है, किन्तु पराये स्वर्णपात्रमें जल पीनेपर प्यास मिटनेसे अलग जो सुख मिलता है वह केवल सौन्दर्यजनित है। यह बात माननी ही पड़ेगी। दूसरे यह सुख सब सुखोंसे बढ़कर तीव्र होता है। जिन्हें प्राकृतिक शोभा देखना पसन्द है या जो काव्यामोदी हैं, वे इसके अनेक उदाहरणोंको खोज ले सकते हैं। सौन्दर्यके उपभोगका सुख अकसर इतना तीव्र होता है कि असह्य हो उठता है। तीसरे अन्यान्य सुख बारबार भोगनेसे अरुचिकर हो जाते हैं, किन्तु सौन्दर्यजनित सुख सदा नया, सदा प्रसन्नता देनेवाला बना रहता है।

अतएव जो लोग मनुष्यजातिका यह सुख बढ़ाते हैं उन्हें मनुष्यजातिका उपकार करनेवालोंमें सर्वोच्च पद मिलना चाहिए। यह सच है कि जो भिक्षुक खँजरी बजाकर, भजन गाकर, मुट्ठीभर भीख पाकर चला जाता है, उसे कोई मनुष्यजातिका बड़ा उपकार करनेवाला न मानेगा। किन्तु जो वाल्मीकि चिरकालके लिए कोटि कोटि मनुष्योंके अक्षय सुख और चित्तके उत्कर्षका उपाय कर गये हैं वे यशके मन्दिरमें न्यूटन, हार्वी, वाट या जेनरके नीचे स्थान पानेके योग्य नहीं हैं। बहुत लोग लेकी, मेकाले आदि असारग्राही लेखकोंके अनुवर्ती होकर कविकी अपेक्षा जूते बनानेवालेको उपकारी कहकर ऊँचे आसनपर बिठाते हैं। पर इस मूर्खदलमें कुछ आधुनिक अर्धशिक्षित बाबू लोग ही अग्रगण्य हैं। उधर विलायतमें राजपुरुषचूड़ामणि ग्लाडस्टन, स्काटलेंडके मनुष्योंमें ह्यूम, स्मिथ, हण्टर, कार्लाइल आदिके रहते भी वाल्टर स्काटको सर्वोच्च स्थान दिया गया है।

जैसे मनुष्यके अन्यान्य अभावोंकी पूर्तिके लिए एक एक शिल्पविद्या है, वैसे ही सौन्दर्यकी आकांक्षा पूर्ण करनेके लिए भी विद्या है। सौन्दर्य उत्पन्न करनेके विविध उपाय हैं। उपायोंके भेदके अनुसार उस विद्याने भिन्न भिन्न रूप धारण किये हैं।

हम जिन सुन्दर वस्तुओंको देखते हैं, उनमेंसे कुछ एकके केवल वर्णमात्र है, और कुछ नहीं है—जैसे आकाश।

और कुछ एकके वर्णके सिवा आकार भी है—जैसे पुष्प।

कुछ एकके वर्ण और आकारके सिवा गति भी है—जैसे नाग।

कुछ एकके वर्ण, आकार और गतिके सिवा शब्द भी है—जैसे कोकिला।

मनुष्यके वर्ण, आकार, गति और शब्दके सिवा अर्थयुक्त वाक्य भी है।

अतएव सौन्दर्य उत्पन्न करनेकी ये ही कई एक सामग्रियाँ हैं—जैसे वर्ण, आकार, गति, शब्द और अर्थयुक्त वाक्य।

जिस सौन्दर्यजननी विद्याका आधार वर्णमात्र है, उसको चित्रविद्या कहते हैं।

जिस विद्याका अवलंबन आकार है वह दो प्रकारकी है। जड़के आकारका सौन्दर्य जिस विद्याका उद्देश्य है उसको स्थापत्य कहते हैं। चेतन या उद्भिदका सौन्दर्य जिस विद्याका उद्देश्य है उसे भास्कर्य कहते हैं।

जिस सौन्दर्यजननी विद्याकी सिद्धि गतिके द्वारा होती है उसको नृत्य कहते हैं।

शब्द जिस विद्याका अवलम्बन है उसे संगीत कहते हैं।

वाक्य जिसका अवलम्बन है उसे काव्य कहते हैं। काव्य, संगीत, नृत्य, भास्कर्य, स्थापत्य और चित्र—ये छः सौन्दर्यजननी विद्यायें हैं। इन विद्याओंका जो जातिवाचक नाम प्रचलित है उसका अनुवाद करके उनको 'सूक्ष्म शिल्प' नाम दिया गया है।

सौन्दर्य उत्पन्न करनेवाली ये छः विद्यायें मनुष्यजीवनको अलंकृत और सुखपूर्ण बनाती हैं। भाग्यहीन हिन्दुस्तानियोंके भाग्यमें यह सुख नहीं बदा है। सूक्ष्मशिल्पके साथ उनका बड़ा विरोध है। इन विद्याओंके प्रति इस देशके लोग बहुत ही अनादर और घृणाका भाव दिखाते हैं। इस देशके लोग वास्तवमें सुखी होना जानते ही नहीं।

हम स्वीकार करते हैं कि सारा दोष इस देशके लोगोंका अपना ही नहीं है। उसमें कुछ दोष हमारी सामाजिक रीति-नीतिका भी है। हम बापदादेकी देहली छोड़कर कहीं जायँगे नहीं—उसीमें असंख्य सन्तान-सन्तति लेकर बिलमें चीटियोंकी तरह रहेंगे। अतएव स्थानाभावके कारण सफाई और सौन्दर्य-साधन हो नहीं सकता। कुछ दोष हमारी गरीबीका भी है।

सौन्दर्यका साधन धनके बिना हो नहीं सकता । बहुतोंके पास किसी तरह गिरिस्ती चलानेके लिए भी यथेष्ट धन नहीं है । उसपर सामाजिकताके कारण पहले स्त्रियोंके गहने गढ़ाकर तिथि-त्योहारमें मा-बापकी बर्सी, चौबर्सी और श्राद्ध आदि कृत्योंमें और पुत्र-कन्याके ब्याहमें वित्तबाहर खर्च करना पड़ता है। चाहे शूकरशालाके समान तंग और गन्दी जगहमें रहना पड़े, पर इन बातोंमें रत्तीभर कमी नहीं हो सकती। यही सामाजिक रीति है। इच्छा होनेपर भी समाज-शृंखलामें बँधा हुआ हिन्दू इस रीतिके विपरीत आचरण नहीं कर सकता । कुछ दोष हिन्दूधर्मका भी है। जिस धर्मके अनुसार कीमती संगमर्मरके फर्शवाले मकानको भी गोबर लीपकर साफ बनानेकी रीति है उस धर्मकी कृपासे सूक्ष्मशिल्पकी दुर्दशा होना ही सर्वथा संभव है।

यह सब स्वीकार कर लेनेपर भी हम दोषसे बच नहीं सकते। जो अँगरेज क्लर्की करके किसीतरह सौ रुपये महीनेमें गुजर करता है उसके साथ, घरकी सजावट और सफाईके बारेमें सालमें २००००) रुपये मुनाफेके पानेवाले देहाती जमींदारकी तुलना करो। देखोगे कि वह भेद बहुत कुछ स्वाभाविक सा है। दो चार धनाढ्य बाबू अँगरेजोंका अनुकरण करके अँगरेजोंकी तरह घर वगैरहकी सजावट किया करते हैं और भास्कर्य तथा चित्र आदिके द्वारा घरको सजाते हैं। हिन्दुस्तानी नकलनवीस अच्छे होते हैं । उनके अनुकरणमें शिथिलता जरा भी नहीं देख पड़ती । किन्तु उनका भास्कर्य और चित्रका संग्रह देखनेसे ही जान पड़ता है कि अनुकरणकी स्पृहासे ही उन्होंने वह संग्रह किया है । नहीं तो सौन्दर्यके प्रति उनका आन्तरिक अनुराग नहीं है। यहाँ भले-बुरेका विचार नहीं है, महँगी चीज होनी चाहिए। सजावटकी निपुणता नहीं है, सामग्री संख्यामें अधिक होनी चाहिए। भास्कर्य और चित्रको जाने दीजिए । काव्यके सम्बन्धमें भी हिन्दुस्थानियोंमें उत्तम अधमके विचारकी शक्ति नहीं देख पड़ती । इस विषयमें यहाँके सुशिक्षित और अशिक्षित समान हैं। दोनोंमें बहुत थोड़ा भेद है। नृत्य और गीतकी विद्या तो शायद हिन्दुस्तानसे उठ ही गई है । सौन्दर्यके विचारनेकी शक्ति, सौन्दर्य-रसके आस्वादनका सुख, शायद बिधाताने इस देशके लोगोंके भाग्यमें नहीं लिखा ।

संगीत ।

संगीत किसे कहते हैं ? सभी जानते हैं कि सुरसमेत शब्द ही संगीत है । पर अब प्रश्न यह है कि सुर क्या है ?

किसी वस्तुमें दूसरी वस्तुका आघात लगनेसे शब्द उत्पन्न होता है, और जिस पदार्थमें आघात लगता है उसके परमाणुओंमें कम्पन पैदा हो जाता है । उस कम्पनसे उसके आसपासकी हवा भी कम्पित होती है । जैसे तालाबमें जलके ऊपर ईंट फेकनेसे छोटी छोटी लहरें उठकर मण्डलाकारमें फैलती हैं वैसी ही कम्पित वायुकी लहरें चारों ओर फैलती हैं । वे ही तरंगें कानमें प्रवेश करती हैं । कानके पर्देमें, एक सूक्ष्म झिल्ली है । वायुकी लहरोंका सिलसिला उसी झिल्ली पर जाकर धक्का मारता है; उसके बाद वह उस झिल्लीसे मिली हुई हड्डी आदिके द्वारा कानके स्नायुमें पहुँचकर मस्तिष्कमें प्रवेश करता है । उसीसे हमें शब्दका अनुभव होता है ।

इस कारण वायुका कम्पन ही शब्दका मुख्य कारण है । वैज्ञानिकोंने यह निश्चित किया है कि जिस शब्दमें, हर सेकेण्डमें, ४५००० दफा वायुका कम्पन होता है उसे हम सुन पाते हैं; उससे अधिक कम्पन होने पर हम नहीं सुन पाते । एक और वैज्ञानिकका कहना है कि हर सेकेण्डमें जिस शब्दमें, १४ दफासे कम कम्पन होता है उस शब्दको हम नहीं सुन पाते । इस वायु-कम्पनकी समान मात्रा ही सुरका कारण है । दो कम्पनोंमें जितना समय बीतता है वह यदि हरबार समान रहे तो सुर पैदा हो जाता है । गीतमें ताल जैसे मात्राकी समता मात्र है वैसे ही शब्दकम्पनमें मात्राकी समता होनेसे सुरकी उत्पत्ति होती है । जिस शब्दमें वह मात्राकी समता नहीं वही ‘ बेसुरा ’ कहलाता है । ताल-सुर ही संगीतका सारांश है ।

इस सुरकी एकता या बहुत्व ही संगीत है । बाहरी प्रकृति-तत्त्वमें संगीतकी यह प्रक्रिया है । किन्तु इससे मानसिक सुख क्यों होता है, सो भी बतलाते हैं ।

संसारमें कुछ भी ऐसा नहीं जो सम्पूर्ण रूपसे उत्कृष्ट हो । सभी चीजोंमें उत्कर्षके किसी अंशका अभाव या दोष है । किन्तु निर्दोष उत्कर्षकी हम

अपने मनमें कल्पना कर ले सकते हैं; और एकबार अपने मनमें उसकी प्रतिमा स्थापित कर लेनेपर उसकी प्रतिमूर्त्तिकी सृष्टि भी कर सकते हैं। जैसे संसारमें कभी निर्दोष मनुष्य नहीं मिलता, जितने मनुष्य देख पड़ते हैं उन सबमें कोई-न कोई दोष अवश्य है। किन्तु हम उन सब दोषोंको त्यागकर, सुन्दर कान्तिमात्रके सौन्दर्यको ध्यानमें रखकर, एक निर्दोष मूर्तिकी कल्पना कर सकते हैं। और, मनमें कल्पना करके पत्थरकी एक निर्दोष प्रतिमा गढ़ी जाती है। इस प्रकार उत्कर्षकी चरम सृष्टि ही काव्य है—चित्र आदिका उद्देश्य है।

जैसे सभी वस्तुओंके चरम उत्कर्षकी एक सीमा है वैसे ही शब्दके उत्कर्षकी भी है। बालकोंकी बातें मीठी लगती हैं, युवतीकी आवाज मनको मोह लेती है, वक्ताका स्वर ही वक्तृताका सारांश है। वक्तृता सुननेसे जितना अच्छा लगता है उतना उसी विषयको पुस्तकमें पढ़ना अच्छा नहीं मालूम पड़ता। क्योंकि उसमें वह स्वर और उच्चारणकी अदा नहीं है। वही बात सहज भावसे कहनेमें कोई रस नहीं मिलता और वही बात किसी रसिकके उच्चारणसे बहुत ही रसीली जान पड़ती है। कभी कभी एक साधारण बातमें इतना शोक, इतना प्रेम या इतना आह्लाद प्रकट होते देखा जाता है कि शोक, प्रेम या आह्लाद जतानेके लिए लिखे गये लंबे चौड़े व्याख्यानमें उसका शतांश भी नहीं पाया जाता। क्यों ऐसा होता है? केवल स्वर और उच्चारणके प्रभावसे। उस स्वर या उच्चारणका भी अवश्य ही एक चरम उत्कर्ष है। वह अत्यन्त सुखदायक हो तो आश्चर्य ही क्या है। क्यों कि साधारण स्वर या उच्चारण भी मनको चञ्चल बना देता है। स्वर या उच्चारणका वह चरम उत्कर्ष ही संगीत है। स्वर मनके भावका चिह्न है। अतएव संगीतके द्वारा सब प्रकारके मानसिक भाव प्रकट किये जासकते हैं।

सभी समयोंमें, सभी देशोंमें, सभी लोगोंमें भक्ति, प्रेम और आह्लादके सूचक संगीत गाये जाते हैं। केवल दुष्टता प्रकट करनेवाले संगीत नहीं हैं। जिनसे राग-द्वेष आदि भाव व्यक्त होते हैं वे शब्द गीतोंमें नहीं हैं। रणवाद्य आदि अवश्य हैं, किन्तु वे हिंसाके लिए उत्तेजित करने-

वाले नहीं है। उनका काम केवल उत्साह बढ़ाना ही है। कल्पनाके द्वारा हम क्रोध, अहङ्कार आदि दुष्टभावोंके वर्णनको गीतमें भावसिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं, किन्तु वह वर्णन केवल कल्पनात्मक रहता है। समझाये बिना वह समझमें नहीं आता। इस कारण ऐसे गीत स्वभावसंगत नहीं होते। शोक प्रकट करनेवाले गीत हैं। वे गीत अत्यन्त मनोहर हैं। किन्तु शोक क्रूरभाव नहीं है, वह करुणाके अन्तर्गत होनेसे भक्ति और प्रेमकी श्रेणीमें ही आजाता है।

इसके उपरान्त राग-रागिनियोंके सम्बन्धमें कुछ कहना है। जैसे तेतीस आदि-देवतोंसे तेतीस करोड़ देवतोंकी सृष्टि हुई है वैसे ही छः रागों और छत्तीस रागिनियोंसे, अद्भुत कल्पनाके प्रभावसे, असंख्य उपराग उपरागिणी और उनके लड़के, नाती-पोते तक कल्पित हुए हैं। यह बड़ा ही रहस्य है। हिन्दुओंकी बुद्धि अत्यन्त कल्पना—कुतूहलसे परिपूर्ण है। उसने शब्दार्थ मात्रको मनुष्य-चरित्र-विशिष्ट बना डाला है। प्राकृतिक वस्तुओं और शक्तियों भरको देव-पदवी दे दी है। पृथ्वी देवी है; आकाश, इन्द्र, वरुण, अग्नि, सूर्य, चन्द्र, वायु—सभी देवता हैं; नद—नदी भी देव-देवी हैं। सब देव-देवी मनुष्यके समान शरीरधारी हैं। उन सबके स्त्री, स्वामी, पुत्र, पौत्र आदि हैं। तर्कके द्वारा पहले यह सिद्ध हुआ कि इस जगतकी सृष्टि करने-वाला एक कोई है। वह ब्रह्मा है। देखा जाता है कि घट—पट आदि वस्तु-ओंकी सृष्टि करनेवाला एक हाथ-पैरोंवाला साकार पुरुष होता है। इस कारण ब्रह्मा भी साकार और हाथ पैरोंवाले हैं। अधिकता यह है कि उनके चार मुँह हैं। उनके एक ब्रह्माणीका होना भी जरूरी ठहरा। एक ब्रह्माणी भी हैं। ऋषिगण उनके पुत्र हुए। हंस उनका वाहन हुआ—नहीं तो चलते-फिरते वे कैसे?—ब्रह्मलोकमें गाड़ियाँ या पालकियाँ नहीं है। कल्पना करनेवालोंको केवल इतनेहीसे सन्तोष नहीं हुआ। मनुष्य जैसे काम, क्रोध आदिके वशीभूत, महापापी होते हैं वैसे ही ब्रह्मा भी कन्याहारी हैं।

जहाँ सृष्टिकर्त्ता आदि अप्रमेय पदार्थ—आकाश, नक्षत्र, पहाड़, नदी आदि प्राकृतिक पदार्थ—अग्नि, वायु आदि प्राकृतिक क्रियायें—काम आदि मानसिक वृत्तियाँ—इत्यादि सब मूर्ति-विशिष्ट पुत्र—स्त्री—युक्त और सभी

विषयोंमें मनुष्यत्व आवश्यक हैं, वहाँ स्वर समष्टि रागके लिए इन बातोंकी कल्पनाका होना क्या विचित्र है? वे भी साकार गृहस्थ माने गये। रागके साथ रागिनीकी कल्पना हुई। केवल यही नहीं कि हर एक रागके एक ही एक रागिनी हो। वे भी बंगाली कुलीन ब्राह्मण, पालीगेमिस्ट, हैं। एक एक रागके छः छः रागिणी हैं। संगीतके रसिकोंको इतनेहीसे सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने रागोंको पूरा बाबू बना डाला। रागिणीके ऊपर उपरागिणियोंकी भी कल्पना हुई। उपरागिणीयोंके लिए उपरागोंकी भी कल्पना हुई। राग-रागिणी, उपराग-उपरागिणी वगैरहके लडके-बाले और पोते-पोती भी देख पड़े।

किन्तु यह सब केवल दिल्लगी भी नहीं है। इस दिल्लगीके भीतर विशेष सारांश है। राग-रागिनीको आकार देना केवल दिल्लगी नहीं है। शब्द शक्तिको कौन नहीं जानता? इस बातको सब जानते हैं कि किसी खास शब्दको सुनकर मनमें किसी खास भावकी उत्पत्ति हुआ करती है। किसी दृश्य वस्तुको देखकर भी उसी भावका उदय हो सकता है। मान लो, हमने कभी किसी पुत्रशोकसे व्याकुल माताके रोनेकी ध्वनि सुनी। यह भी मान लो कि वह रोनेवाली हमें देख नहीं पड़ती। हम केवल उसके रोनेकी ध्वनि सुन रहे हैं। उस ध्वनिको सुनकर हमारे मनमें शोकका आविर्भाव हुआ। फिर हम जब वैसा ही रोनेका शब्द सुन पायेंगे हमको वही शोक याद आजायगा—वैसे ही शोकका आविर्भाव होगा।

मान लो, अन्यत्र हमने देखा कि पुत्रशोकसे आतुर माता बैठी हुई है। वह रोती नहीं है; किन्तु उसका चेहरा देखनेसे ही हमने उसकी उत्कट मानसिक यंत्रणाका अनुभव कर लिया। उस सन्तापसे क्लेशको प्राप्त मलिन मुख-मण्डलका भाव हमारे हृदयमें अंकित हो गया। तबसे जब वैसा मलिन शोकार्त चेहरा देखेंगे तभी हमको वह शोक याद आजायगा—हृदयमें उस शोकका आविर्भाव होगा।

अतएव वह ध्वनि और वह मुखका भाव, दोनों ही हमारे मनमें शोकके चिह्नस्वरूप हैं। वैसी ध्वनिसे वही शोक याद हो आवेगा। मानस-

श्रेणीके संगीतके सुखका अनुभव शिक्षाके बिना नहीं हो सकता। जिनको अभ्यास नहीं वे जैसे प्याज नहीं खाना चाहते, वैसे ही अशिक्षित लोग उत्कृष्ट संगीतको सुनना नहीं चाहते। दोनों ही बातें अभ्यासके अधीन हैं। संस्कारहीन लोग राग-रागिणी-परिपूर्ण पक्का गाना सुनना नहीं चाहते और बहुत अनुप्रासोंसे युक्त यूरोपका संगीत हिन्दुस्तानियोंके लिए जंगलमें रोनेके बराबर है। किन्तु इन दोनोंके लिए अनादरका भाव असभ्यताका चिह्न है। जैसे राजनीति, धर्मनीति, विज्ञान, साहित्य आदि विषयोंको जानना सब मनुष्योंके लिए उचित है, वैसे ही शरीरके स्वास्थ्यके लिए व्यायाम और मनोरञ्जनके लिए मनोमोहिनी संगीतविद्या जानना भी हरएक भले आदमीका कर्तव्य है। अभ्याससम्बन्धिनी विद्याओंमें संगीत सर्व प्रधान है। हम लोगोंके भले घरोंमें लड़कियों और लड़कोंको संगीत शिक्षा देना निषिद्ध समझा जाना, हमारी असभ्यताका चिह्न है। स्त्रियोंके संगीतनिपुण होनेपर घरमें एक विमल आनन्दकी गंगा बहती है। शौकीनोंका मद्यपान और एक अन्यदोष उससे बहुत कुछ दूर हो सकता है। इस देशमें निर्मल आनन्दके अभावसे ही बहुत लोग मद्यपान करने लगते हैं— संगीतप्रियतासे ही बहुत लोग वेश्याओंके घर जाने और बिगड़ने लगते हैं।

नवीन लेखकोंके लिए कुछ उपदेश।

(१) यशके लिए न लिखना। अगर यशके लिए लिखोगे तो यश भी न मिलेगा और तुम्हारी रचना भी अच्छी न होगी। रचना अच्छी होनेसे यश आप ही प्राप्त होगा।

(२) रुपयेके लिए न लिखना। यूरोपमें इस समय अनेक लोग रुपयेके लिए लिखते हैं और रुपये पाते भी हैं। उनकी रचना भी अच्छी होती है। किन्तु हमारे यहाँ अभी वह दिन नहीं आया। इस समय यहाँ रुपयेके लिए लिखनेसे लोकरञ्जनकी प्रवृत्ति प्रबल हो उठती है। और, हमारे

देशके वर्त्तमान साधारण पाठकोंकी रुचि और शिक्षापर ध्यान देकर लोकरञ्जनकी ओर झुकनेसे रचनाके विकृत अनिष्टका कारण हो उठनेकी सम्पूर्ण संभावना है।

(३) अगर तुम अपने मनमें यह समझो कि लिखकर देश या मनुष्य-जातिकी कुछ भलाई कर सकोगे, अथवा किसी सौन्दर्यकी सृष्टि कर सकोगे तो अवश्य लिखो। जो लोग अन्य उद्देश्यसे लिखते हैं वे लेखककी उच्च पदवीको नहीं पासकते।

(४) जो असत्य और धर्मविरुद्ध है, जिसका उद्देश्य पराई निन्दा, दूसरेको पीड़ा पहुँचाना या स्वार्थसाधन है, वह लेख कभी हितकर नहीं हो सकता। इस कारण ऐसा लिखना सर्वथा त्याज्य है। सत्य और धर्म ही साहित्यका लक्ष्य है। और किसी उद्देश्यसे कलम उठाना महापाप है।

(५) जो लिखो उसे वैसे ही प्रकाशित न कर दो। कुछ दिनोंतक उसे डाल रक्खो। कुछ दिनोंबाद उसका संशोधन करो। तब तुम्हें देख पड़ेगा कि तुम्हारे लेखमें अनेक दोष हैं। काव्य, नाटक, उपन्यास आदिको लिख कर दो एक वर्ष डाल रखकर फिर संशोधन करनेसे वे विशेष उत्कर्षको प्राप्त करते हैं। किन्तु जो लोग सामयिक साहित्यकी सेवा करते हैं उनके लिए यह नियम नहीं है। इसी कारण लेखकके लिए सामयिक साहित्य अवनतिका कारण हुआ करता है।

(६) जिस विषयमें जिसकी गति नहीं है उस विषयमें उसे हाथ न डालना चाहिए। यह एक सीधी बात है। पर सामयिक साहित्यमें इस नियमकी रक्षा नहीं होती।

(७) अपनी विद्या या विद्वत्ता दिखानेकी चेष्टा मत करो। अगर विद्या होती है तो वह लेखमें आप ही प्रकट हो जाती है, चेष्टा नहीं करनी पड़ती। विद्या प्रकट करनेकी चेष्टासे पाठक खीझ उठते हैं और उससे रचनासौन्दर्यको भी विशेष हानि पहुँचती है। आजकलके लेखोंमें अँगरेजी, संस्कृत, फ्रेंच और जर्मन भाषाओंके उद्धरण (कोटेशन) बहुत अधिक देख पड़ते हैं। जो भाषा अपनेको नहीं मालूम उस भाषाके किसी वाक्य या अंशको औरोंके ग्रन्थकी सहायतासे कभी मत उद्धृत करो।

(८) अलंकारके प्रयोग या रसिकताके लिए चेष्टा न करना। किसी किसी स्थानमें अलंकार या व्यंग्यका प्रयोजन अवश्य होता है; किन्तु लेखकके भंडारेमें यह सामग्री होगी तो प्रयोजनके समय आप उपस्थित हो जायगी और भंडारेमें न होगी तो सिर पटकने पर भी नहीं आसकती। असमयमें या भंडारा सूना होने पर अलंकारके प्रयोग या रसिकताकी चेष्टाके समान उपहासकी बात और नहीं है।

(९) यह एक प्राचीन विधि है कि जिस स्थान पर अलंकार या व्यंग्य बहुत सुंदर जान पड़े उस स्थानको काट देना चाहिए। किन्तु मैं यह बात नहीं कहता। पर मेरी सलाह यह है कि उस स्थानको अपने मित्रोंके आगे वारम्वार पढ़ो। अगर वह अच्छा न होगा तो लेखकको आप ही अच्छा न लगेगा—मित्रोंके आगे पढ़नेमें भी लज्जा मालूम होगी। तब उसे काट देना ही ठाक जान पड़ेगा।

(१०) सब अलंकारोंसे श्रेष्ठ अलंकार सरलता है। जो सरल शब्दोंमें सहज रीतिसे पाठकोंको अपने मनका भाव समझा सकते हैं वे ही श्रेष्ठ लेखक हैं। क्यों कि लिखनेका उद्देश्य ही पाठकोंको समझाना है।

(११) किसीका अनुकरण मत करो। अनुकरणमें दोषोंका ही अनुकरण होता है, गुणोंका नहीं। इस बातको कभी मनमें जगह मत दो कि अमुक अँगरेजी, संस्कृत या हिन्दीके लेखकने ऐसा लिखा है तो मैं भी वैसा लिखूँ।

(१२) जिस बातका प्रमाण न देसको वह भी मत लिखो। प्रमाणोंके प्रयोगकी यद्यपि सब समय आवश्यकता नहीं होती, तथापि प्रमाणका हाथमें रहना बहुत जरूरी है।

हर एक जातिकी भाषाका साहित्य उस जातिके लिए आशा-भरोसा होता है। उन जातियोंके लेखक यदि इन नियमों पर ध्यान रक्खेंगे तो उनकी भाषाके साहित्यकी श्रीवृद्धि शीघ्रताके साथ होगी।

भारत-कलंक ।

भारतवर्ष पराधीन क्यों है ?

भारतवर्ष कई सौ वर्षोंसे पराधीन क्यों है ? इस प्रश्नके उत्तरमें सब लोग कहा करते हैं कि भारतके लोग हीनबल हैं। इसी कारण "Effeminate Hindoos." यूरोपियनोंकी जिह्वापर सदा बना रहता है। यही भारतका कलंक है। किन्तु उधर यूरोपियनोंके मुखसे ही भारतवर्षके सिपाहियोंके बल और साहसकी प्रशंसा सुनी जाती है। उन्हीं स्त्री-स्वभाव हिंदुओंके बलसे ही काबुल जीता गया। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि उन्हीं स्त्रीस्वभाव हिन्दुओंकी सहायतासे उन्होंने भारतवर्षको जीता है। वे स्वीकार करें या न करें, उन्हीं स्त्री-स्वभाव हिन्दुओंके—मराठे और सिक्खोंके—निकट अनेक युद्धोंमें उन्हें परास्त भी होना पड़ा है।

आधुनिक हिन्दुओंका बल-वीर्य इस समय चाहे जैसा हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह प्राचीन हिन्दुओंके बल-वीर्यकी अपेक्षा हीन है। हजारों वर्षोंकी अधीनतासे उसका ह्रास अवश्य ही हो गया होगा। प्राचीन भारतके लोग अन्य जातियोंके द्वारा विजित होनेके पहले विशेष बलशाली थे। ऐसा समझनेके अनेक कारण हैं। दुर्बल होनेके कारण वे पराधीन नहीं हुए।

हम स्वीकार करते हैं कि इस पक्षका समर्थन करना सहज नहीं है और इस विषयके यथेष्ट प्रमाणोंको प्राप्त करना भी दुस्साध्य है। इस तर्ककी मीमांसा केवल इतिहासके ही सहारे हो सकती है। किन्तु दुर्भाग्यवश अन्यान्य जातियोंकी तरह भारतवर्षीय लोग अपनी कीर्तियोंको लिखकर रख नहीं गये हैं। प्राचीन भारतवर्षका इतिहास नहीं है। इसी कारण भारतवर्षके लोगोंकी जो प्रशंसनीय युद्धकीर्ति थी वह भी लुप्त हो गई है। जो ग्रन्थ 'पुराण' के नामसे प्रसिद्ध हैं उनमें यथार्थ इतिहास कुछ भी नहीं है। जो कुछ है वह अस्वाभाविक अमानुषिक कथाओंसे ऐसा ढका हुआ है कि यथार्थ घटनाका निश्चय किसी तरह नहीं होता।

भाग्यवश अन्य देशोंके ऐतिहासिकोंके ग्रन्थोंमें दो जगह प्राचीन भारत-वर्षके लोगोंके युद्ध आदिका उल्लेख पाया जाता है। पहला हाल तो तबका है जब मेसीडोनियाके अलेग्जंडर या सिकन्दर दिग्विजयकी यात्रा करके भारतमें आकर लड़े थे। रचना-कुशल यवन-लेखकोंने उस युद्धका वर्णन किया है। दूसरे, मुसलमानोंने भारतको जीतनेके लिए जो उद्योग किये थे उनका विवरण मुसलमान लेखक अपने ग्रन्थोंमें लिख गये हैं। किन्तु पहले ही वक्तव्य यह है कि ऐसी गवाहीमें पक्षपातकी भारी संभावना है। चित्रकारके मनुष्य होनेके कारण ही चित्रमें सिंह मनुष्यके द्वारा परास्त देख पड़ता है। ऐसे ऐतिहासिकोंकी संख्या बहुत कम है जो अपनी जातिके लाघव या पराभवको स्वीकार करके सत्यके अनुरोधसे शत्रुपक्षके यशका कीर्तन करते हैं। अपेक्षाकृत मूढ़ आत्मगौरवपरायण मुसलमानोंकी बात जाने दीजिए, सुशिक्षित, सत्यनिष्ठाका अभिमान रखनेवाले यूरोपके इति-हास-लेखक भी इस दोषसे ऐसे कलंकित हैं कि उनके ग्रंथ पढ़ते पढ़ते कभी कभी घृणा उत्पन्न हो आती है। इसी कारण इस देशके और शत्रु-पक्षके, दोनों ओरके इतिहास-लेखकोंकी सहायता मिले बिना किसी घटनाके यथार्थरूपका निर्णय नहीं किया जा सकता। केवल आत्मगौरव-परायण परधर्मावलम्बी सत्यभीत मुसलमानलेखकोंकी बातपर निर्भर करके प्राचीन भारतवर्षके लोगोंकी युद्ध-निपुणताकी मीमांसा नहीं की जा सकती। खैर जो कुछ हो, निम्नलिखित दो बातें मुसलमान इतिहास-लेखकोंके ग्रन्थोंसे ही विचारके द्वारा सिद्ध होती हैं।

एक तो यह कि अरबदेशके लोग एक प्रकारसे दिग्विजयी हो चुके थे। उन्होंने जब जिस देशपर आक्रमण किया तब उसी देशको जीतकर पृथ्वीपर अतुल साम्राज्य स्थापित किया। वे केवल दो देशोंसे हारकर निकाले गये। पश्चिममें फ्रान्ससे और पूर्वमें भारतसे। अरबके लोगोंने मुहम्मदकी मृत्युके बाद छः वर्षमें सीरियादेशको, दस वर्षमें फारिसको, एक सालमें आफ्रिका और स्पेनको, अठारह वर्षमें काबुलको और आठ वर्षमें तुर्किस्तानको सम्पूर्णरूपसे अपने अधिकारमें कर लिया था। किन्तु वे भारतवर्षको जीतनेके लिए तीनसौ वर्षतक यत्न करके भी उसे हस्तगत नहीं कर सके। महम्मद-

बिन कासिमने सिन्धुदेशपर अवश्य अधिकार कर लिया था, किन्तु राजपूतानेने उनको हराकर बाहर निकाल दिया था। उनके मरनेके कुछ दिनों बाद राजपूतोंने सिन्धुदेशपर फिर अधिकार कर लिया था। दिग्विजयी अरब लोग भारतको जीत नहीं सके। एलफिन्स्टन कहते हैं कि हिन्दुओंका अपने धर्मके प्रति दृढ़ अनुराग ही उनके यों अजेय होनेका कारण था। किन्तु हम कहते हैं, नहीं, युद्ध-निपुणता और लड़नेकी शक्ति ही इसका कारण था। हिन्दुओंका अपने धर्मपर अनुराग अभी तक प्रबल है। फिर वे क्यों लगातार सातसौ वर्षोंसे अन्य जातियोंके अधीन हैं?

दूसरे यह कि जब किसी प्राचीनदेशके निकट किसी नवीन अभ्युदयको प्राप्त और विजयकी अभिलाषा रखनेवाली जाति अवस्थिति करती है तब प्राचीन जाति प्रायः नवीन जातिके प्रभुत्त्वके अधीन हो जाती है। इस प्रकारकी सर्वान्तकारिणी और विजयकी अभिलाषा रखनेवाली जाति प्राचीन यूरोपमें रोमन लोग और एशियामें अरब और तुर्क लोग थे। जो जाति इनके संस्रवमें आई वही परास्त होकर इनके अधीन हो गई। पहले ही कहा जा चुका है कि कितने थोड़े ससयमें अरबी लोगोंने मिसर, उत्तर आफ्रिका, स्पेन, फारिस, टर्की और काबुलके राज्योंको काबूमें कर लिया था। इनकी अपेक्षा भी सुप्रसिद्ध कुछ साम्राज्योंका उदाहरण दिया जा सकता है। रोमन लोगोंने ईस्वी सन्‌के २०० वर्ष पहले ग्रीसपर आक्रमण किया था। तबसे बावन वर्षके बीचमें ही उन्होंने संपूर्ण ग्रीसके राज्यको बिल्कुल अपने वशमें कर लिया। सुप्रसिद्ध कार्थेज–राज्य ईस्वी सन्‌के २६४ वर्ष पहले, अर्थात् १२० वर्षके बीचमें ही रोमन लोगोंने उस राज्यको विध्वस्त करके अपने अधीन बना लिया। पूर्व-रोमन या ग्रीक-साम्राज्य चौदहवीं शताब्दीके प्रथम भागमें तुर्कों द्वारा आक्रान्त होकर सन् १४५३ ई० में, अर्थात् ५० वर्षके बीचमें, टर्कीके दूसरे महम्मदके हाथसे लोपको प्राप्त हो गया। पश्चिम-रोमन जिसका नाम अभीतक जगतमें वीर-दर्पकी पताका समझा जाता है, वह भी सन् २८६ ई० में उत्तरकी बर्बर जातिके द्वारा पहले आक्रान्त होकर, सन् ४७६ ई० में, अर्थात् प्रथम बर्बर-विप्लवके १९०

वर्षोंके बीचमें ही ध्वंसको प्राप्त हो गया। सन् ६६४ ई० में पहले पहल अरबके मुसलमानोंने भारत पर आक्रमण किया था। उस सालसे ५२९ वर्षोंके बाद शहाबुद्दीन गोरी उत्तरभारत पर अधिकार कर सका था। किन्तु शहाबुद्दीन गोरी या उसके अनुचर अरबी नहीं थे। जैसे अरबी लोगोंका यत्न निष्फल हुआ वैसे ही गजनी शहरके रहनेवाले तुर्कोंकी भी चेष्टा व्यर्थ हुई। जिन्होंने पृथ्वीराज, जयचन्द और सेनवंशीय राजाओंसे उत्तर-भारतका राज्य छीना वे पठान या अफगान थे। अरबियोंके प्रथम-भारताक्रमणके ५२९ वर्ष बाद और तुर्कोंके प्रथम भारताक्रमणके २१३ वर्ष बाद उक्त पठानोंने भारतके राज्यपर अधिकार कर पाया। पठानलोग कभी अरबी या तुर्क लोगोंके समान समृद्धिशाली या प्रतापी न थे। उन्होंने केवल पहलेके अरबी और तुर्क लागोंके सूचित कार्यको सम्पन्न किया *। अरबी, तुर्क और पठान, इन तीनों जातियोंकी यत्न-परम्परासे साढ़ेपाँचसौ वर्षमें भारतवर्षकी स्वाधीनता मिटी।

मुसलमान साक्षी यही कहते हैं। यह भी स्मरण रखना उचित है कि इन्होंने जब हिन्दुओंका परिचय पाया तब हिन्दुओंका सुदिन बीत चुका था—राजलक्ष्मी क्रमशः फीकी पड़ती जा रही थी। ईस्वी सन् चलनेके पहलेवाले हिन्दू अधिकतर बलवान् थे, इसमें कोई सन्देह नहीं।

उसी समय यहाँके लोगोंके साथ ग्रीकलोगोंका परिचय हुआ। वे खुद अद्वितीय बलशाली थे। उन्होंने वारम्वार भारतवर्षके लोगोंके साहस और युद्ध-निपुणताकी प्रशंसा की है। मेसीडोनियाके विप्लवके वर्णनके समय ग्रीक-लेखकोंने बार बार यह लिखा है कि एशियामें ऐसी युद्ध-निपुण दूसरी जाति उन्होंने नहीं देखी। यह भी लिखा है कि हिन्दुओंने ग्रीक-सेनाको जितनी हानि पहुँचाई उतनी और किसी जातिने नहीं। प्राचीन भारतवर्षके लोगोंकी युद्ध-निपुणताके सम्बन्धमें अगर किसीको संशय हो तो उसे भारतवर्षका वृत्तान्त लिखनेवाले ग्रीकलोगोंके ग्रन्थ पढ़ने चाहिए।

---

* पश्चिम अंशमें अरबी और तुर्कलोग केवल कुछ भूमिपर अधिकार कर सके थे।

भारतभूमि सर्वरत्नप्रसविनी होनेके कारण अन्य देशके राजा इसे सदा लोभकी दृष्टिसे देखते आये हैं। इसी कारण अकसर अनेक जातिके लोगोंने आकर उत्तर पश्चिम और पहाड़ी रास्तेसे प्रवेश कर भारतपर अधिकार जमानेकी चेष्टा की है। ईरानी, जोन, बाल्हीक, शक, हूण, अरबी, तुर्क आदि सब यहाँ आये हैं और सिन्धुके पार अथवा दोनों किनारोंपर कुछ दिनोंके लिए कुछ जगह पर अधिकार करके फिर निकाल दिये गये हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी तक आर्य लोग सब जातियोंको शीघ्र या देरमें दूर करके अपने देशकी रक्षा कर सके। पृथ्वीपर ऐसी कोई जाति नहीं है, और शायद कभी न थी, जिसने पन्द्रहसौ वर्षोंतक प्रबल जातियोंके आक्रमण रोककर इतने दिनोंतक अपनी स्वतन्त्रताकी रक्षा की हो। इतने अधिक दिनोंतक हिन्दुओंकी समृद्धि अक्षय रहनेका कारण निस्सन्देह उनका बाहुबल ही था। अन्य कोई कारण नहीं देख पड़ता।

इन सब प्रमाणोंके रहते भी सर्वदा सुना जाता है कि हिन्दूलोग सदासे रण-विमुख या युद्ध करनेमें असमर्थ हैं। अदूरदर्शी लोगोंके निकट भारतवर्षके इस चिर-कलङ्कके तीन कारण हैं।

१—हिन्दुओंका इतिहास नहीं है। अपने गुणोंको अगर आप न गावें तो और कौन गावेगा? संसारका स्वभाव ही यह है कि जो कोई अपनेको महापुरुष कहकर परिचय नहीं देता उसे कोई आदमियोंमें ही नहीं गिनता। कब किस जातिने दूसरी जातिके गुण गाये हैं? रोमनलोगोंके युद्ध-पाण्डित्यका प्रमाण रोमनोंका लिखा हुआ इतिहास है। ग्रीक लोगोंके वीर होनेका परिचय ग्रीकलोगोंके लिखे ग्रन्थोंसे मिलता है। मुसलमानोंके बहादुर होनेकी बात भी हमें केवल मुसलमानोंके ही लेखसे जान पड़ती है। केवल इसी बातके न होनेसे कोई हिन्दुओंके गौरवको नहीं मानता। क्योंकि हिन्दुओंकी उस बातका कोई गवाह नहीं है।

२—जो जातियाँ दूसरोंके राज्यों पर आक्रमण करती हैं, छीननेकी चेष्टा करती हैं, वे ही युद्धकुशल कहकर अन्यजातियोंके निकट परिचित होती हैं। जिन्होंने केवल आत्मरक्षा मात्रमें सन्तुष्ट रहकर दूसरेका राज्य छीननेकी

इच्छा नहीं की उन्होंने कभी वीर गौरव नहीं पाया। न्यायनिष्ठा और वीर-गौरवका साथ प्रायः नहीं देखा जाता। अभीतक हमारी भाषामें 'भले-मानुस' का अर्थ डरपोक निकम्मा आदमी किया जाता है। 'अमुक बहुत ही भला या सीधा आदमी है' इसका अर्थ यही है कि वह किसी कामका आदमी नहीं है।

हम यह नहीं कहते कि हिन्दू राजा बिल्कुल ही दूसरेका राज्य लेनेके लोभसे शून्य थे। वे परस्पर आक्रमण भी किया करते थे। किन्तु भारतवर्ष हिन्दुओंके राज्यकालमें छोटे छोटे मण्डलोंमें बँटा हुआ था। भारतवर्ष ऐसा बड़ा देश है कि छोटे छोटे माण्डलिक राजा कभी उसके बाहर देशजयकी इच्छासे नहीं जाते थे। कोई हिन्दू राजा कभी सारे भारतको अपने साम्रा ज्यके अन्तर्गत नहीं ला सका। इसके अलावा हिन्दूलोग यवन-म्लेच्छ आदि अन्यधर्मावलम्वी जातिके लोगोंसे विशेष घृणा करते थे। उनके ऊपर प्रभुत्व करनेकी चेष्टा करनेकी उनके द्वारा कोई संभावना नहीं, बल्कि उन यवना-दिके देशोंको जीतनेकी यात्रामें अपने जाति-धर्मके नष्ट होनेकी शंका करनेकी संभावना ही अधिक जान पड़ती है। सच है कि इस समयके काबुल-राज्यका अधिकांश उस समय हिन्दुओंके राज्यमें था, किन्तु उस समय वह प्रदेश भारतका ही एक हिस्सा समझा जाता था।

२—हिन्दूलोग बहुत दिनोंसे पराधीन हैं। जो जाति बहुत दिनोंसे परा-धीन है उसका वीर-गौरव कैसा? किन्तु इस समयके हिन्दुओंकी वीर्यकी कमी प्राचीन हिन्दुओंके अपमानका उपयुक्त कारण नहीं है। प्रायः अनेक देशोंमें देखा जाता है कि वहाँके प्राचीन और आधुनिक लोगोंमें चरित्रका सादृश्य अधिक नहीं है। इटली और ग्रीस, भारतवर्षकी तरह इस बातके उदाहरण हैं। मध्यकालके इटालियन और वर्तमान ग्रीकोंके चरित्रसे प्राचीन रोमन और ग्रीकोंको कायर सिद्ध करना जैसे अन्याय है, वैसे ही आधुनिक भारतवर्षकी लोगोंकी पराधीनतासे प्राचीन आर्योंमें बलकी कमी सिद्ध करना भी अन्याय है।

हम यह भी नहीं कहते कि आधुनिक भारतवर्षके लोग बिलकुल ही कायर या नामर्द हैं और इसी लिए इतने दिनोंसे पराधीन हैं। इस पराधीनताके और ही कारण हैं। हम उनमेंसे इस जगह पर दो कारणोंका विस्तारके साथ वर्णन करेंगे।

एक तो यह कि यहाँके लोगोंमें स्वभावसे ही स्वाधीनताकी आकांक्षा नहीं है। ऐसा खयाल भारतवर्षके लोगोंके मनमें आता ही नहीं कि अपने देश और अपनी जातिके लोग हम पर शासन करें, हम विदेशीय, विजातीय लोगोंके शासनके अधीन क्यों रहें? यह बात यहाँके लोगोंके हृदयसे मेल ही नहीं खाती कि अपनी जातिके राजाका शासन मंगलकर या सुखका आकर है और विजातीय राजाका दण्ड पीड़ादायक अपमानका कारण है। उन्हें यह बोध तो है कि परतन्त्रताकी अपेक्षा स्वतन्त्रता अच्छी है। किन्तु वह बोध मात्र है; वह ज्ञान आकांक्षामें परिणत नहीं है। अनेक वस्तुओंके सम्बन्धमें हमारा यह ज्ञान हो सकता है कि वे अच्छी हैं। किन्तु उस ज्ञानसे उन सभी वस्तुओंके प्रति हमारे हृदयमें आकांक्षा नहीं उत्पन्न होती। हरिश्चन्द्रके दानीपन और कार्शियसके देशवात्सल्यकी प्रशंसा कौन नहीं करता? किन्तु उनमेंसे कितने हरिश्चन्द्रकी तरह सर्वस्व त्यागने या कार्शियसकी तरह आत्मघात करनेके लिए प्रस्तुत होंगे? प्राचीन या आधुनिक यूरोपकी जातियोंके लोगोंमें स्वातन्त्र्यप्रियता प्रबल आकांक्षाके रूपमें परिणत देख पड़ती है। उनका विश्वास है कि स्वतन्त्रता छोड़नेके पहले सर्वस्व और प्राण तकका त्याग कर्तव्य है। किन्तु हिन्दुओंमें यह बात नहीं है। वे समझते हैं कि " जिसकी इच्छा हो वह राज्य करे, हमारा क्या? अपनी जातिका और दूसरी जातिका, दोनों राजा समान हैं। चाहे स्वजातिय हो और चाहे विजातीय, सुशासन करनेसे दोनों समान हैं। इसका क्या ठीक कि स्वजातीय राजा सुशासन करेगा और विजातीय राजा सुशासन न करेगा? यदि इसका निश्चय नहीं है तो फिर हम स्वजातीय राजाके लिए क्यों जान दें? राज्य राजाकी सम्पत्ति है। वह उसे अपने अधिकारमें रख सके तो रक्खे। हमारे लिए स्वजातीय विजातीय दोनों समान हैं। कोई हमारी आयसे छट्टा हिस्सा 'कर' लेनेमें एक कौड़ीकी रिआयत न

परिश्रमसे अधिक अवकाश मिलनेपर सहजमें ही मनकी गति आभ्यन्तरिक होती है। ध्यान और चिन्तनकी अधिकता होती है। उसका एक फल कवित्व और जगतके तत्त्वोंमें पाण्डित्य है। इसी कारणसे हिन्दूलोग थोड़े ही समयमें अद्वितीय कवि और दार्शनिक हो गये हैं। किन्तु मनकी आभ्यन्तरिक गतिका दूसरा फल बाह्य सुखोंके प्रति आस्थाका न होना है। बाह्य सुखोंके प्रति आस्था न होनेसे निश्चेष्टभाव आजाता है। स्वतन्त्रताके प्रति आस्थाका न होना इस स्वाभाविक निश्चेष्टताका एक अंशमात्र है। आर्योंके धर्मतत्त्व और दर्शनशास्त्रमें यह चेष्टाहीनताका भाव सर्वत्र विद्यमान है। क्या वैदिक, क्या बौद्ध, क्या पौराणिक, सभी धर्म इसी निश्चेष्टताकी संवर्द्धनासे परिपूर्ण हैं। वेदसे वेदान्त, सांख्य आदि दर्शनोंकी उत्पत्ति हुई है। उसके अनुसार लय या भोगकी निवृत्ति ही मोक्ष है—निष्काम भाव ही पुण्य है। बौद्धधर्मका निर्वाण ही मुक्ति है।

अब प्रश्न यह हो सकता है कि यदि हिन्दूजाति सदासे स्वतन्त्रताका आदर करना नहीं जानती तो यहाँ मुसलमानोंकी अमलदारी होनेके पहले साढ़े पाँच हजार वर्षतक उन्होंने क्यों यत्नपूर्वक विजातीयोंको विमुख करके स्वाधीनताकी रक्षा की ? विजातीय लोग कभी सहजमें यहाँसे हटे न होंगे—बड़ी मुश्किलसे यह काम हुआ होगा। जिस सुखके प्रति आस्था न थी उसके लिए हिन्दू–समाजने इतना कष्ट क्यों स्वीकार किया था ?

इसका उत्तर यह है कि इसका प्रमाण कहीं नहीं मिलता कि हिन्दू-समाजने कभी शक यवन आदिको विमुख करनेके लिए विशेष यत्न किया था। हिन्दू नरपतियोंने अपनी राज्य-सम्पत्तिकी रक्षाके लिए यत्न किया था। उनकी संग्रह की हुई सेना युद्ध करती थी; जब हो सकता था, शत्रुको विमुख करती थी। इसीसे देशकी स्वतन्त्रताकी रक्षा होती थी। इसके सिवा इस बातका कोई प्रमाण नहीं मिलता कि "हम अपने देशमें विदेशीय राजा न होने देंगे" यह विचार कर साधारण लोगोंने कभी उद्योग किया हो [illegible] उत्साह दिखाया हो। बल्कि इसके विरुद्ध होना ही यथार्थ जान पड़ता है। जब समर-लक्ष्मीकी कोपदृष्टिके प्रभावसे हिन्दू राजा या हिन्दू सेनापति

रणमें मारा गया तभी हिन्दूसेना युद्ध छोड़कर भाग गई—फिर युद्धके लिए एकत्र नहीं हुई। फिर किसके लिए युद्ध करती? जब राजा मर गया या अन्य कारणसे उसने राज्य-रक्षाकी चेष्टा छोड़ दी तभी हिन्दुओंका युद्ध समाप्त हो गया। फिर किसीने उस राजाके स्थानपर खड़े होकर स्वतन्त्रताकी रक्षाका उपाय नहीं किया; साधारण समाजसे अरक्षित राज्यकी रक्षाका उद्योग नहीं हुआ। जब भाग्यके फेरसे यवन, ईरानी, शक या बाल्हीक किसी प्रदेश-खण्डके राजाको रणमें हरा कर उसके सिंहासन पर बैठे तभी प्रजाने अपने पहले स्वामीकी तरह उन अनार्य राजाओंका भी आदर किया। राज्यके छीननेमें उन्होंने कोई आपत्ति नहीं की। तीन हजार वर्षसे अधिक समय तक, आर्योंके साथ आर्यजातीय, आर्यजातीयोंके साथ भिन्नजातीय, भिन्नजातीयोंके साथ भिन्नजातीय—मगध (बिहार) के साथ कान्यकुब्ज, कान्यकुब्जके साथ दिल्ली, दिल्लीके साथ लाहौर, हिन्दुओंके साथ पठान, पठानोंके साथ मुगल—लड़-झगड़कर सदा समरकी आग जलाकर देशको नष्टभ्रष्ट करते खाकमें मिलाते रहे हैं। किन्तु इन सब युद्धोंमें केवल राजाके साथ राजाकी लड़ाई होती थी। साधारण हिन्दूसमाजने कभी किसीकी ओर होकर किसीसे युद्ध नहीं किया। हिन्दूराजाओं अथवा हिन्दुस्तानके राजाओंको बारबार भिन्न भिन्न जातियोंने जीता है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि साधारण हिन्दू-समाज कभी किसी अन्य: जातिके द्वारा जीता गया है। क्यों कि साधारण हिन्दूजातिने कभी किसी अन्यजातिके साथ युद्ध ही नहीं किया।

इस विचारमें हिन्दूजातिकी बहुत दिनोंकी पराधीनताका दूसरा कारण प्रकट होगया। उस कारणको हिन्दूसमाजकी फूट, समाजमें जातिय भावकी स्थापनाका अभाव, जातिहितैषिताकी कमी, आदि चाहे जो कुछ कहिए। हम यहाँपर विस्तारके साथ उसे समझानेकी चेष्टा करते हैं।

मैं हिन्दू हूँ, तुम हिन्दू हो, यह हिन्दू है, वह हिन्दू है, और भी लाखों हिन्दू हैं। इन लाखों हिन्दुओंकी जिसमें भलाई है उसीमें मेरी भी भलाई है। जिसमें उनका मंगल नहीं है उसमें मेरा भी मंगल नहीं है। अतएव:सब हिन्दुओंका जिसमें मंगल हो वही मेरा कर्त्तव्य है और किसी भी हिन्दूका

जिससे अमंगल हो वही अकर्त्तव्य है। जैसे मेरा इस प्रकार कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य है वैसे ही तुम्हारा भी है, इसका भी है, उसका भी है, सभी हिन्दुओंका है। जब सभी हिन्दुओंका एक ही कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य है तब सब हिन्दुओंको चाहिए कि एक सलाह करके, एकमत होकर मेलके साथ हरएक कार्य करें। यह ज्ञान जाति (नेशन) की स्थापनाका प्रथम भाग—आधाअंश मात्र है।

हिन्दूजातिके अलावा पृथ्वीपर अन्य अनेक जातियाँ हैं। उनके हरएक भलाईके कामसे हमारी भलाई होना असंभव है। बहुत स्थानोंमें उनके मंगलसे हमारे अमंगलकी ही संभावना है। जिस जगह उनके मंगलसे हमारा अमंगल है उस जगह हम वही करेंगे जिसमें उनका मंगल न हो। इसमें परजाति-पीड़न करना होगा तो हम वह भी करेंगे। जिस तरह उनके मंगलसे हमारे अमंगलकी संभावना है वैसे ही हमारे मंगलसे उनके अमंगलकी संभावना है। हो तो हो, हम उसके लिए अपनी जातिकी भलाई करनेसे निवृत्त न होंगे। दूसरी जातिका अमंगल करके अपनी जातिकीभलाई करनी होगी तो हम वह भी करेंगे। जातिकी स्थापनाका यह दूसरा भाग है।

किन्तु देखा जाता है कि इस प्रकारकी मनोवृत्ति निष्पाप शुद्धभाव कहकर स्वीकार नहीं की जा सकती। इसमें भारी दोषपूर्ण विकार है। उस विकारसे जातिके सर्वसाधारणको ऐसी भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है कि पराई जातिके मंगल मात्रसे अपनी जातिका अमंगल है, और पर-जातिके अमंगलमात्रसे अपनी जातिका मंगल है। इसी कुसंस्कारके वशवर्त्ती होकर यूरोपकी जातियोंने अनेक दुःख भोगे हैं। उन्होंने वृथा ही अनेक बार युद्धकी आग जलाकर यूरोपको उसमें दग्ध किया है।

किन्तु स्वजाति-प्रतिष्ठा चाहे भली हो चाहे बुरी, जिस जातिमें यह बलवती होती है वही जाति अन्य जातियोंकी अपेक्षा प्रबलता प्राप्त करती है। आजकल यूरोपमें इस ज्ञानने विशेष प्रधानता प्राप्त की है और इसीके प्रभावसे वहाँ अनेक विप्लव होते देख पड़ते हैं। इसीके प्रभावसे इटलीमें एक-राज्यकी स्थापना हुई है। इसीके प्रभावसे विषम प्रतापशाली नवीन जर्मन-साम्राज्यकी स्थापना हुई है (और अभी अभी एक जगद्व्यापी घोर युद्ध चल कर समाप्त हुआ है)। और भी क्या क्या होगा, सो कहा नहीं जा सकता।

हम यह नहीं कहते कि भारतवर्षमें, किसी भी समयमें, यह जाति-प्रतिष्ठा थी ही नहीं । यूरोपके पण्डितोंने यह निश्चय किया है कि आर्यजातिके लोग सदासे भारतवर्षके रहनेवाले नहीं है । अन्यत्रसे भारतमें आकर उन्होंने उसपर अधिकार किया है। पहले आर्योंने जब जय प्राप्त की तब वेद आदिकी सृष्टि हुई, और उसी समयको पण्डित लोग वैदिक काल कहते हैं । वैदिक मन्त्र आदिमें इसके अनेक प्रमाण पाये जाते हैं कि वैदिक कालमें और इसके कुछ उपरान्त भी आर्य लोगोंमें जातिप्रतिष्ठाका भाव विशेष प्रबल था । उस कालके समाजके नियामक ब्राह्मणोंने जिस प्रकार समाज-शृंखला स्थापित की थी उससे भी जातिप्रतिष्ठाके भावका परिचय प्राप्त होता है। आर्यवर्णोंमें और शूद्रोंमें जो विषयभेद देख पड़ता है—आर्यवर्णों और शूद्रोंके शासनमें आकाशपातालका अन्तर देख पड़ता है वह भी जाति-प्रतिष्ठाके भावका ही फल है। किन्तु क्रमशः आर्य-वंश विस्तृत हो पड़ा और तब वह जाति-प्रतिष्ठाका भाव नहीं रहा । आर्यवंशके लोगोंने विस्तृत भारतवर्षके अनेक प्रदेशों पर अधिकार करके स्थान स्थान पर एक एक खण्ड-समाजकी स्थापना की । भारतवर्ष इस प्रकारके बहुतसे खण्ड-समाजोंमें बँट गया । समाज-भेद, भाषा-भेद, आचार व्यवहारका भेद, अनेक भेद अन्तको जाति-भेदके रूपमें परिणत हो गये । बाल्हीकसे पौण्ड्र तक, काश्मीरसे चोल और पाण्ड्य तक, सारी भारतभूमि मधुमक्खियोंसे परिपूर्ण शहदके छत्तेकी तरह अनेक जाति और समाजोंसे परिपूर्ण होगई । अन्तको कपिलवस्तुके राजकुमार शाक्यसिंहने एक अभिनव धर्मकी सृष्टि की । अन्यान्य भेद तो मौजूद ही थे, धर्मभेद भी उत्पन्न हो गया । देशभेद, भाषाभेद, राज्यभेद, धर्मभेदके आगे एकजातीयता कहाँ टिक सकती थी ? सागरके भीतरके मत्स्यदलकी तरह भारतवर्षके लोग एकतासे शून्य हो गये । उसके बाद मुसलमान आये । मुसलमानों[illegible] वंश भी यहाँ बढ़ने लगा । उसके बाद सागरकी लहरके ऊपर लहरक[illegible] नये नये मुसलमान-सम्प्रदाय पाश्चात्य पर्वतमाला पार होकर [illegible] इस देशके हजारों आदमी राजाकी कृपाके लोभसे या राजाके —— जानेके डरसे मुसलमान होने लगे । अब भारतवर्षके निवा[illegible]र्थ Nation-

और मुसलमान दो जातियाँ हो गईं। हिन्दू, मुसलमान, मुगल, पठान, राजपूत, महाराष्ट्र एकत्र काम करने लगे। तब जातिमें एका कैसे रहता? एकेका ज्ञान किस तरह रहता?

इस प्रकार भारतवर्षमें अनेक जातियाँ हो गईं। निवासस्थानके भेदसे, भाषाके भेदसे, वंशके भेदसे, धर्मके भेदसे अनेक जातियाँ हो गईं। बंगाली पंजाबी, मराठे, राजपूत, जाट, हिंदू, मुसलमान, इनमें कौन किसके साथ एका करता? धर्मका मेल है तो वंशका मेल नहीं है, वंशका मेल है तो भाषाका मेल नहीं है, भाषाका मेल है तो निवासस्थानका मेल नहीं है। राजपूतों और जाटोंका एक धर्म है तो भिन्न वंशमें उत्पत्ति होनेके कारण वे भिन्नजातीय हैं। बंगाली और बिहारी अगर एक वंशके हैं तो उनकी भाषायें भिन्न हैं। केवल यही नहीं है। भारतका ऐसा भाग्य है कि जहाँ किसी प्रदेशके लोग सब बातोंमें एक हैं—जिनका धर्म, भाषा, जाति, देश सब एक है—वहाँ उनमें भी जातिकी एकताका ज्ञान नहीं है। बंगालियोंमें बंगाली जातिकी एकताका बोध नहीं है, सिखोंमें सिखजातिकी एकताका बोध नहीं है। इसका भी विशेष कारण है। बहुत समयतक भिन्न जातियाँ जब एक बड़े साम्राज्यके बीचमें रहती हैं तब क्रमशः जाति-ज्ञान या जातीयताका भाव लुप्त हो जाता है। भिन्न भिन्न नदियोंकी जल-राशि जब समुद्रमें आकर मिल जाती है तब उसमें यह नहीं जाना जा सकता कि अमुक नदीका अमुक जल है। वैसे ही बृहत् साम्राज्यके अन्तर्गत भिन्नजातियोंका भी वही हाल होता है। उनका अलगाव जाता रहता है, किन्तु ऐक्य नहीं उत्पन्न होता। रोमन साम्राज्यके भीतर आई हुई जातियोंकी ऐसी ही दशा हुई थी। हिन्दुओंकी भी वही दशा हुई है। भारतवर्षमें अनेक कारणोंसे बहुत दिनोंसे जाति-प्रतिष्ठा उठ गई है। जाति-प्रतिष्ठाके उठ जानके कारण कभी हिन्दू समाजके द्वारा किसी जातीय कार्यका संपादन नहीं हुआ। प्रतिष्ठा उठ जानेके कारण ही हिन्दुओंके राज्यासन पर बिना आपत्तिके जने सब जातिके राजाओंको बिठा लिया है। इसी कारण हिन्दू स्वतन्त्रताकी रक्षा करनेके लिए उँगली भी नहीं उठाई।

उल्लिखित समयके बीच केवल दो बार हिन्दूसमाजमें उदय होते देखा गया है। एक बार महाराष्ट्रप्रदेशमें

शिवाजीने इस महामन्त्रका पाठ किया था। उनके सिंहनादसे महाराष्ट्र प्रदेश जग उठा था। उस समय मराठोंमें भ्रातृभाव देख पड़ा था। इसी महामन्त्रके बलसे मराठोंने उस मुगलसाम्राज्यको नष्ट कर दिया जिस पर पहले किसीने विजय नहीं पाई थी। सारा भारत महाराष्ट्रोंके हाथमें आ गया था। भारतके सभी राजाओंने मराठोंके चरणोंमें सिर झुकाया था।

दुबारा रनजीतसिंहने 'खालसा' का महामन्त्र पढ़कर ऐसा ही चमत्कार दिखाया था। जातीयबन्धन दृढ़ होने पर पठानोंका अपना देश भी कुछ कुछ हिन्दुओंके हाथमें आगया था। सतलजके उसपार सिंहनाद सुनकर निर्भीक अँगरेज भी शंकित हो उठे थे। भाग्यवश वह सिंह मर गया। लार्ड डलहौसीने होशियारीके साथ 'खालसा' के महामन्त्रका चमत्कार मिटा दिया। किन्तु रामनगर और चिनियानवालाकी लड़ाई इतिहासमें अंकित होगई।

जब किसी प्रदेश-खण्डमें जाति-प्रतिष्ठाका उदय होनेसे इतना हुआ था तब संपूर्ण भारत अगर एक-जाति बनकर जातीयभावसे परिपूर्ण हो उठता तो क्या नहीं हो सकता था?

अँगरेज लोग भारतवर्षके परम उपकारी हैं। अँगरेज लोग हमें नई नई बातें सिखा रहे हैं। जो हम कभी जानते न थे वही जना रहे हैं, जो हमने कभी देखा सुना और समझा नहीं था वही हमको दिखा, सुना और समझा रहे हैं। जिस मार्गमें हम कभी चले नहीं, उस मार्गमें किस तरह चलना चाहिए, सो हमको सिखा रहे हैं। इन शिक्षाओंमें अनेक शिक्षायें अमूल्य हैं। जो अमूल्यरत्न हमको अँगरेजोंके ज्ञानभाण्डारसे मिले हैं उनमें दोका इस प्रबन्धमें उल्लेख किया गया है—एक स्वातन्त्र्यप्रियता और द्वितीय जाति-प्रतिष्ठा *। हिन्दू इन्हें पहले नहीं जानते थे।

* इस प्रबन्धमें जहाँ जाति शब्द आया है वहाँ उसका अर्थ Nationality या Nation समझना चाहिए।

भारतकी स्वाधीनता और पराधीनता ।

मनुष्यकी ऐसी दुर्दशा कभी हो नहीं सकती कि उसमें शुभ कुछ न देख पड़े। हमारे भारी दुर्भाग्यमें भी ढूँढ़नेसे कुछ न कुछ भलाई पाई जा सकती है। जो अशुभके भीतर शुभका अनुसन्धान करके उसकी आलोचना करता है वही विज्ञ है। दुःखके दिनोंमें इस बातकी आलोचना करनेमें कुछ सुख है कि दुःख भी केवल दुःख ही नहीं है।

भारतवर्ष पहले स्वाधीन था—अब कई सौ वर्षोंसे पराधीन है। भारतवर्षके नई पौधके लोग इसे घोरतर दुःख समझते हैं। हमारी इच्छा है कि एक बार उस प्राचीन स्वाधीनता और नवीन पराधीनताकी तुलना करके देखें। देखें कि दुःख क्या है और सुख क्या है।

पहले इस पर विचार करनेकी आवश्यकता जान पड़ती है कि स्वाधीनता पराधीनता आदि शब्दोंका तात्पर्य क्या है। हम इस समय प्राचीन भारतवर्षकी तुलना करने बैठे हैं। तुलनाका उद्देश्य है न्यूनाधिकता या तारतम्यका निर्देश करना। किन्तु किस विषयका तारतम्य हमारे अनुसन्धानका विषय है? प्राचीन भारतवर्ष स्वाधीन था और आधुनिक भारत पराधीन है—यह बात कहनेसे क्या लाभ है? हमारी समझमें इस प्रकारकी तुलनाका एकमात्र उद्देश्य यह होना चाहिए कि प्राचीन भारतवर्षमें लोग सुखी थे या आधुनिक भारतवर्षमें अधिक सुखी हैं।

हो सकता है कि इतनेमें हमारे कुछ पाठक हम पर खीझ उठे हों। स्वाधीनतामें सुख है, इस सिद्धान्तमें संशय ही क्या है? जो संशय करता है वह नासमझ नराधम इत्यादि है। हम स्वीकार करते हैं। किन्तु यह प्रश्न करनेसे कि स्वाधीनता पराधीनताकी अपेक्षा क्यों अच्छी है, ठीक उत्तर मिलना कठिन है।

इस देशके लोगोंने अँगरेजी पढ़कर इस विषयमें दो बातें सीखी हैं— 'Independence' और 'Liberty।' इनका अनुवाद 'स्वाधीनता' और 'स्वतन्त्रता' हो सकता है। बहुत लोगोंकी धारणा है कि ये दोनों शब्द एक ही अर्थ सूचित करते हैं। इन शब्दोंसे स्वजातीय शासनके अधीन

अवस्थाका बोध होता है, यही सर्वसाधारणकी प्रतीति है। राजा यदि दूसरे देशका हो तो उसकी प्रजा पराधीन और वह राज्य परतन्त्र है। इस कारण, इस समय अँगरेजोंके शासनाधीन भारतवर्षको पराधीन और परतन्त्र कहा जाता है। इस धारणाकी जड़ क्या है, इसी पर पहले विचार करना उचित है।

महारानी विक्टोरियाको अँगरेज-कन्या कहा जा सकता है। किन्तु उनके पूर्वपुरुष प्रथम या द्वितीय जार्ज अँगरेज नहीं थे। वे जर्मन थे। तृतीय विलियम पोर्च्युगीज थे। बोनापार्ट कार्सिकाय इटालियन थे। स्पेनके भूत-पूर्व प्राचीन बूर्बोवंशके राजा फ्रेंच थे। रोम-साम्राज्यके सिंहासनपर अनेक बर्बर जातिके सम्राट् बैठे थे। इस प्रकारकी सैकड़ों घटनाओंका उल्लेख किया जा सकता है। देखा जाता है कि इन सब राज्योंमें उस उस समय भिन्न जातिके राजा थे। अच्छा, उस उस समय ये सब राज्य पराधीन या परतन्त्र कहे जा सकते हैं या नहीं? कोई नहीं कह सकता कि ये राज्य उस उस समयमें पराधीन थे। यदि प्रथम जार्जके शासनाधीन इँग्लैंडको या ट्रेजन-शासित रोमको पराधीन नहीं कहा जा सकता तो शाहजहाँके शासनाधीन भारतवर्षको या अलीवर्दीखाँके शासनाधीन बंगालको पराधीन क्यों कहते हैं?

देखा जाता है कि शासनकर्त्ता भिन्न जातिका होनेसे ही राज्य परतन्त्र नहीं होता। इस बातके भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं कि शासन-कर्त्ताके स्वजातीय होनेसे ही राज्य स्वतन्त्र नहीं होता। वाशिंगटनके किये युद्धके पहले अमेरिकाके शासनकर्त्ता स्वजातीय थे। उपनिवेशों (कलोनियों) भरकी प्रथमावस्थामें शासनकर्त्ता स्वजातीय हुआ करता है। किन्तु उस अवस्थामें उपनिवेशोंको कभी स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता।

तो फिर परतन्त्र किसे कहते हैं?

यह निश्चित है कि अँगरेजोंके अधीन आधुनिक भारत परतन्त्र राज्य है। रोमन लोगों द्वारा विजित ब्रिटेनसे सीरिया तक सब राज्य परतन्त्र थे। अलजियर्स या जमेका परतन्त्र राज्य है। ये सब राज्य क्यों परतन्त्र हैं?

ये सब एक एक अलग राज्य नहीं हैं, भिन्न देशवासी राजाके राज्यका एक अंशमात्र हैं। भारत-सम्राट् भारतवर्षमें नहीं रहते। भारतवर्षका बादशाह भारतवर्षमें नहीं, अन्य देशमें है। जिस देशका राजा अन्य देशके सिंहासन पर अवस्थित और अन्य देशका रहनेवाला हो वही देश परतन्त्र है।

दो राज्योंका एक राजा होनेसे उनमेंसे एक देश परतन्त्र और एक देश स्वतन्त्र होगा। जिस देशमें राजा रहता है वह देश स्वतन्त्र है और जिस देशमें राजा नहीं रहता वही देश परतन्त्र है।

इस प्रकारकी परिभाषा करनेमें कुछ आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं। इँग्लैंडके राजा प्रथम जेम्स स्काटलैंड और इँग्लैंड दो राज्योंके अधीश्वर होकर, स्काटलैंड छोड़ कर इँग्लैंडमें रहने लगे। स्काटलैंड क्या इँग्लैंडको राज्य देकर परतन्त्र हो गया? बाबरशाह, भारतको जीत कर, दिल्लीमें सिंहासन स्थापित कर, वहाँसे पैतृक-राज्यका शासन करने लगे। उनका अपना देश क्या भारतवर्षके अधीन हो गया? प्रथम जार्ज इँग्लैंडके सिंहासनको पाकर वहीं रहकर पैतृक-राज्य हनोवरका शासन करने लगे। तो क्या हनोवर उस समय परतन्त्र हो गया था?

परिभाषाके अनुरोधसे हमको कहना पड़ेगा कि प्रथम जेम्स, प्रथम जार्ज या बाबरशाहका पैतृक-राज्य परतन्त्र हो गया था। किन्तु परतन्त्र भर हो गये थे, पराधीन नहीं हुए थे। हम Indipendence शब्दके बदले 'स्वतन्त्रता' और Liberty शब्दकी जगह 'स्वाधीनता' का और इनके अभावसूचक स्थानोंमें इनके अभाव-सूचक शब्दोंका प्रयोग करते हैं।

तो परतन्त्रता और पराधीनतामें भेद क्या है? अथवा स्वतन्त्रता या पराधीनतामें भेद क्या है?

इँग्लैंडमें राजनैतिक स्वाधीनताका एक विशेष प्रयोग प्रचलित है। हम उस अर्थका आश्रय लेनेके लिए बाध्य नहीं है। क्यों कि वह अर्थ इस उपस्थित विचारके लिए उपयुक्त नहीं है। इसका जो अर्थ भारतवर्षके लोग समझते हैं वही अर्थ हम भी समझावेंगे।

दूसरे देशका आदमी किसी देशमें राजा होता है तो एक अत्याचार होता है। जो राजाके स्वजातीय होते हैं उन्हें इस देशके लोगोंकी अपेक्षा प्रधानता प्राप्त होती है। उससे प्रजा दूसरी जातिके द्वारा पीड़ित होती है। जहाँ देशकी प्रजा और राजजातिकी प्रजामें इस तरहका तारतम्य हो उसी देशको पराधीन कहेंगे। जो राज्य परजाति-पीड़नसे शून्य है वह स्वाधीन है।

अतएव परतन्त्र राज्यको भी कभी कभी स्वाधीन कहा जा सकता है। जैसे—प्रथम जार्जके राज्यकालमें हनोबर और मुगलोंके राज्यकालमें काबुल। ऐसे ही कभी कभी स्वतन्त्र राज्यको भी पराधीन कहा जासकता है। जैसे नार्मनलोगोंके समयमें इँग्लैंड और औरंगजेबके समयमें भारतवर्ष। हम कुतुबुद्दीनके अधीन उत्तर-भारतको परतन्त्र और पराधीन तथा अकबर-शासित भारतको स्वतन्त्र और स्वाधीन कहते हैं।

वह जो कुछ हो, प्राचीन भारत स्वतन्त्र और स्वाधीन था, और आधुनिक भारतवर्ष परतन्त्र और पराधीन माना जाता है। हम पहले स्वतन्त्रता और परतन्त्रतासे जो विषमता होती है उसकी आलोचना करेंगे। उसके बाद स्वाधीनता और पराधीनताके सम्बन्धमें अपने विचार प्रकट करेंगे। राजाके अन्यदेशवासी होनेसे दो अनिष्ट होनेकी संभावना होती है। एक तो यह कि राजाके दूर रहने पर सुशासनमें विघ्न होता है। दूसरे यह कि राजा जिस देशमें रहता है उसके प्रति उसको अधिक श्रद्धा होती है। वह उसकी भलाईके लिए दूरके राज्यकी कुछ हानिको भी स्वीकार कर सकता ह। यह नहीं कहा जा सकता कि भारतके संबंधमें इन दोषोंकी कुछ मात्रा नहीं देख पड़ती। इसमें सन्देह नहीं कि यदि भारतसम्राटका सिंहासन कलकत्ते या दिल्लीमें होता तो भारतवर्षकी शासनप्रणाली बहुत कुछ उत्कृष्ट होती। क्योंकि जो राजाके निकट होता है उसके प्रति राजपुरुष अधिक मन लगाते हैं। दूसरा दोष भी देखा जाता है। इँग्लैंडके गौरवके लिए अबीसीनियाका युद्ध हुआ, खर्च देना पड़ा भारतवर्षको। 'होम चार्जेज' कहकर बजटमें जो खर्चकी 'मद' लिखी जाती है उसमें इँग्लैंडके लिए

इसी तरह भारतवर्षका क्षति-स्वीकार देखा जाता है। इसी तरह और भी बातें हैं।

राजाके दूर रहनेके कारण आधुनिक भारतवर्षके सुशासनमें विघ्न अवश्य होता है, किन्तु राजाके स्वेच्छाचारी होनेसे सुशासनमें जिन विघ्नोंके संघटित होनेकी संभावना होती है, वे विघ्न नहीं होते। पहलेके जमानेमें ऐसा होता था कि कोई राजा विषयी है—महलोंमें ही रहता है, राज्यकी दुर्दशा हो गई। कोई राजा निष्ठुर है; कोई राजा धनका लोभी है। प्राचीन भारतमें इस तरहकी भारी असुविधायें होती थीं। इस समय दूर-स्थित राजा या रानीमें यदि इस प्रकारका कोई दोष आभी जाय तो उसका फल भारतवर्ष तक अपना असर नहीं डाल सकता।

दूसरे, जैसे आधुनिक भारतवर्षमें इँग्लैंडकी भलाईके लिए कभी कभी भारतको हानि उठानी पड़ती है वैसे ही प्राचीन भारतमें राजाके आत्म-सुखके लिए राज्यको हानि उठानी पड़ती थी। पृथ्वीराजने जयचन्द्रकी कन्याको हरकर आत्म-सुखका संपादन किया। उससे भयानक युद्ध ठन गया। दोनोंमें मनोमालिन्य बढ़नेसे और दोनोंकी शक्ति क्षीण होनेसे दोनों ही मुसलमानोंके शिकार वने और उनके इस कृत्यसे प्रजाको धनहानि, जनहानि, प्राणहानि तक उठानी पड़ी। आधुनिक भारतवर्षमें दूरवासी राजाके आत्मसुखके अनुरोधसे इस प्रकारका कोई अनिष्ट होनेकी संभावना नहीं है।

किन्तु यह जो कुछ कहा गया वह परतन्त्रताके सम्बन्धमें ही कहा गया है। हम पहले ही परतन्त्रता और पराधीनतामें अन्तर दिखा चुके हैं। भारतमें अँगरेजोंकी प्रधानता है, देसी प्रजामात्र अँगरेजोंका दबाव मानती है और अँगरेजोंके सुखके लिए भारतवासियोंको कुछ कुछ अपने सुखकी हानि भी स्वीकार करनी पड़ती है। इस बातको इस देशका कोई आदमी अस्वीकार न करेगा। इस प्रकार एक जातिके ऊपर दूसरी जातिकी प्रधा-नता प्राचीन भारतमें नहीं थी। यह बात तो नहीं थी, किन्तु इसीके समान वर्ण-विभागका पीड़न था। इस बातको कोई अस्वीकार न करेगा कि

चिरकालसे भारतवर्षकी साधारण प्रजा शूद्र है। ब्राह्मण आदि तीनों श्रेष्ठ वर्ण शूद्रोंकी अपेक्षा बहुत कम थे। इन तीनों वर्णोंमें ब्राह्मण और क्षत्रिय देशके शासक थे। इन बातोंको यहाँपर जरा विस्तारके साथ लिखनेकी आवश्यकता जान पड़ती है।

लोगोंका विश्वास है कि प्राचीन भारतमें केवल क्षत्रिय ही राजा थे। किन्तु वास्तवमें यह बात नहीं है। राजकाजके दो विभाग थे। युद्ध आदिका काम क्षत्रियोंके ऊपर था और राजव्यवस्थानिर्वाचन, न्याय-विचार इत्यादिका काम ब्राह्मणोंके हाथमें था। इस समय जैसे सिविल और मिलिटरी ये दो राजकाजके विभाग हैं, उस समयकी व्यवस्था भी कुछ ऐसी ही थी। ब्राह्मण लोग सिविल कर्मचारी थे और क्षत्रिय लोग मिलिटरी थे। इस समय भी जैसे मिलिटरीकी अपेक्षा सिविल कर्मचारियोंकी अधिक प्रधानता है वैसे ही उस समय भी थी। राजपुरुषोंमें राजपदवी क्षत्रियोंको ही दी जाती थी, किन्तु कार्यतः उन पर भी ब्राह्मणोंका दबाव था, या यों कहो कि वे भी ब्राह्मणोंके मातहत थे। यह भी बात नहीं है कि प्राचीन भारतमें सदा क्षत्रिय ही राजा रहे हों। जान पड़ता है, पहलेके समयमें क्षत्रिय ही राजा थे। किन्तु बौद्ध युगमें मौर्यआदि संकरजातीय राजवंश देख पड़ते हैं। चीनी यात्री ह्वेन्त्सांग सिन्धु-पारमें ब्राह्मण राजा देख गये थे। अन्यत्र भी ब्राह्मणोंने 'राजा' नाम धारण कर लिया था। मध्यकालके अधिकांश राजा ही राजपूत थे। राजपूत लोग क्षत्रियवंशसे उत्पन्न संकरजाति हैं। प्राचीन भारतमें क्षत्रियोंकी प्रधानता चिरकाल तक अप्रतिहत नहीं रही, ब्राह्मणोंका गौरव एक दिनके लिए भी कम नहीं हुआ। वेदविद्वेषी बौद्धोंके समयमें भी राजकाज ब्राह्मणोंके हाथसे दूसरोंके हाथ नहीं गया। क्यों कि वे ही पण्डित, सुशिक्षित और उस कार्य करनेकी शक्ति रखनेवाले थे। अतएव प्राचीन भारतमें ब्राह्मण लोग ही असलमें राजपुरुष कहलाने योग्य थे। सुविज्ञ लेखक बाबू ताराप्रसाद चट्टोपाध्यायने बंगाल-मेगजीनमें, एक प्रबन्धमें, ठीक ही लिखा है कि ब्राह्मण ही प्राचीन भारतके अँगरेज थे।

अब प्रश्न यह है कि आधुनिक भारतवर्षके देसी और विलायती लोगोंमें जो वैषम्य देख पड़ता है वह क्या प्राचीन भारतके ब्राह्मण और शूद्रोंके वैषम्यकी अपेक्षा बहुत अधिक है?

भिन्न जातीय राजा होनेसे जो जाति-पीड़ा उत्पन्न हुआ करती है वह दो तरहसे होती है। एक तो राजव्यवस्थाके नियममें लिखा रहता है कि राजाके स्वजातीय लोगोंके लिए यह बात इस तरह होगी और देसी लोगोंके लिए और तरह होगी। दूसरे स्वजाति-पक्षपाती राजाकी इच्छासे होनेवाली राजकृपासे जाति-पीड़ा होती है। राजा अपनी जातिसे रिआयतका बरताव करता है और स्वजातिके पक्षपातके मारे राजकाजमें अपनी ही जातिवालोंको नियुक्त करता है। अँगरेजोंके शासनाधीन भारतमें और ब्राह्मण-शासित भारतमें ये दोनों दोष किस प्रकारसे वर्तमान थे और हैं, सो नीचे लिखा जाता है।

१—अँगरेजोंकी बनाई राजव्यवस्थाके अनुसार देसी अपराधीके लिए एक विचारालय हैं और विलायती अपराधीके लिए दूसरा विचारालय है। देसी लोगोंको अँगरेज विचारक दण्ड दे सकता है, किन्तु अँगरेज अपराधी-को देसी विचारक दण्ड नहीं दे सकता। इसके सिवा व्यवस्थामें और अधिक वैषम्य नहीं है। किन्तु ब्राह्मणोंके शासनकालमें इससे कहीं अधिक वैषम्य देखा जाता है। अँगरेजोंके लिए अलग विचारालय है; लेकिन कानून जुदा नहीं है। जैसे एक देसी आदमी अँगरेजकी हत्या करनेसे वधके योग्य है, वैसे ही अँगरेज भी अगर देसी आदमीकी हत्या करे तो वह भी आईनके अनुसार उसी तरह वधके योग्य है। किन्तु ब्राह्मणोंके शासन-कालमें शूद्रहन्ता ब्राह्मण और ब्राह्मणहन्ता शूद्रके दण्डमें कितना वैषम्य देख पड़ता है! कौन कहेगा कि इस विषयमें प्राचीन भारतवर्षसे आधुनिक भारतवर्ष निकृष्ट है?

अँगरेजोंके राज्यमें जैसे अँगरेजको देसी आदमी दण्ड नहीं दे सकता वैसे ही प्राचीन भारतमें शूद्र भी ब्राह्मण अपराधीको दण्ड नहीं दे सकता था।

अँगरेजोंके राज्यमें राजप्रसाद प्रायः अँगरेजोंको ही मिलता है। लेकिन किसी कदर देसी लोग भी उच्च पदोंपर हैं। ब्राह्मणोंके राज्यमें शायद

शूद्रोंको इतना भी राजानुग्रह नहीं मिलता था। किन्तु जब कभी कभी शूद्र राजसिंहासनपर बैठनेके लिए समर्थ हुए हैं तब अन्यान्य उच्चपदोंपर भी उन्होंने समय समय पर अवश्य अधिकार जमाया होगा। इस समय देखा जाता है कि प्राथमिक न्याय विचारका काम प्रायः देसी लोगोंके ही द्वारा होता ह। प्राचीन भारतमें क्या प्राथमिक विचारका कार्य शूद्रोंके द्वारा होता था ? हम प्राचीन भारतके सम्बन्धमें इतना कम जानते हैं कि इस प्रश्न पर कुछ निश्चित रूपसे नहीं कह सकते। जान पड़ता है, अनेक न्याय विचारकार्य ग्राम्य-पंचायतोंके द्वारा ही हुआ करते थे। किन्तु प्राचीन ग्रन्थ आदि पढ़नेसे यह जान पड़ता है कि उच्च श्रेणीके विचारक और सेनापति आदिके अन्यान्य प्रधानपद ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके ही अधिकारमें रहते थे।

बहुत लोग कहेंगे कि अँगरेजोंकी प्रधानता और ब्राह्मण–क्षत्रियोंकी प्रधानतामें सादृश्यकी कल्पना अच्छी कल्पना नहीं है। क्यों कि ब्राह्मण-क्षत्रिय शूद्रपीड़क होने पर भी स्वजातीय थे–अँगरेज लोग भिन्न जातिय हैं। इसका ऐसा उत्तर देनेकी इच्छा होती है कि जो पीड़ित होता है उसके लिए स्वजातिका पीड़न और अन्य जातिका पीड़न दोनों ही समान हैं। यह तो नहीं जान पड़ता कि स्वजातीयके हाथसे मिली हुई पीड़ा कुछ मीठी होती हो, और विजातीयके हाथसे मिली हुई पीड़ा कुछ तीखी लगती हो। किन्तु हम यह उत्तर देना नहीं चाहते। यदि स्वजातीयकी दी हुई पीड़ामें किसीको प्रीति हो तो हमको उसमें कुछ आपत्ति नहीं है। हमारे कहनेका यही उद्देश्य है कि आधुनिक भारतकी जाति–प्रधानताके स्थानमें प्राचीन भारतमें वर्ण-प्रधानता थी। अधिकांश लोगोंके लिए दोनों समान हैं।

हाँ, यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि पराधीन भारतवर्षमें उच्च श्रेणीके लोग अपनी बुद्धि, शिक्षा, वंश और मर्यादाके अनुसार प्रधानता नहीं प्राप्त कर सकते। जिसके विद्या और बुद्धि है उसको यदि बुद्धिके सञ्चालन और विद्याको सफल करनेकी जगह न दी जाय तो वह उसके प्रति बड़ा भारी अत्याचार होगा। आधुनिक भारतवर्षमें ऐसा होते देखा जाता है। प्राचीन भारतमें वर्णगत वैषम्यके कारण यह भी होता था, किन्तु इतना नहीं होता था। और एक बात यह है कि इस समय राज–

काज आदि सब अँगरेजोंके हाथमें हैं—हम लोग दूसरोंके बाहुबलसे रक्षित होनेके कारण हम खुद कोई काम नहीं कर पाते। इससे हम राज्यरक्षा और राज्यपालनकी विद्या नहीं सीखते। जातीयगुणकी स्फूर्त्ति नहीं होती। अतएव स्वीकार करना पड़ता है कि पराधीनता इस ओर हमारी उन्नतिमें बाधा डालती है। किन्तु वैसे ही दूसरी ओर हम यूरोपके साहित्य और विज्ञानकी शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। यूरोपियन जातिके अधीन हुए बिना हमको यह सुख नसीब न होता। अतएव पराधीनतामें जैसे एक ओर हमारी क्षति होती है वैसे ही दूसरी ओर उन्नति हो रही है।

अतएव यही समझा जाता है कि आधुनिक भारतकी अपेक्षा प्राचीन भारतवर्षमें उच्च श्रेणीके लोगोंको स्वाधीनताका कुछ सुख था। किन्तु अधिकांश लोगोंके लिए प्रायः दोनों ही बराबर हैं; बल्कि आधुनिक भारत-वर्ष अच्छा है।

दोनोंकी तुलना करनेसे हमने जो जाना है उसे संक्षेपमें फिर नीचे लिखते हैं। इससे बहुत लोगोंको समझनेमें सुविधा होगी।

१—भिन्न जातिका राजा होनेसे राज्य परतन्त्र या पराधीन नहीं होता। भिन्नजातीय राजाके अधीन राज्यको भी स्वतन्त्र और स्वाधीन कह सकते हैं।

२—स्वतन्त्रता और स्वाधीनता, परतन्त्रता और पराधीनता, इनके हम भिन्न भिन्न पारिभाषिक अर्थ लिख चुके हैं।

विदेशनिवासी राजाके द्वारा शासित राज्य परतन्त्र है। जहाँ भिन्न जातिकी प्रधानता है वह राज्य पराधीन है। अतएव कोई राज्य परतन्त्र है, पर पराधीन नहीं है। कोई राज्य स्वतन्त्र है, पर स्वाधीन नहीं है। कोई राज्य परतन्त्र है और पराधीन भी है।

३—किन्तु तुलनाका उद्देश्य उत्कर्ष और अपकर्ष देखना है। जिस राज्यमें लोग सुखी हैं वही उत्कृष्ट है। जिस राज्यमें लोग दुखी हैं वही अपकृष्ट है। विचारणीय यही है कि आधुनिक भारतकी प्रजा स्वतन्त्र और पराधीन अवस्थामें कितनी दुखी है।

४—पहले, स्वतन्त्रता और परतन्त्रताको लीजिए। इसके अन्तर्गत दो तत्त्व हैं। एक यह कि राजाके विदेशमें रहनेके कारण भारतवर्षके सुशासनमें विघ्न होता है या नहीं ? स्वदेशके मङ्गलके लिए शासनकर्त्ता लोग इस देशको हानि पहुँचाते हैं या नहीं ? स्वीकार करना होगा कि उक्त कारणसे सुशासनमें विघ्न भी होता है और भारतकी हानि भी होती है।

किन्तु पूर्वसमयमें राजाके चरित्रके दोषसे जो अनिष्ट होते थे वे आधुनिक भारतमें संघटित नहीं होते। अतएव इस सम्बन्धमें प्राचीन और आधुनिक भारतवर्षमें विशेष तारतम्य नहीं देख पड़ता।

५—दूसरे, स्वाधीनता और पराधीनताको लीजिए। आधुनिक भारतवर्ष यदि प्रभुजातिकी प्रधानतासे पीड़ित है तो प्राचीन भारतमें भी ब्राह्मणोंके प्राधान्यकी पीड़ा कम न थी। अधिकांश प्रजाके लिए इस विषयमें भी कुछ अधिक इतर-विशेष नहीं है। हाँ, प्राचीन समयमें ब्राह्मणों और क्षत्रियोंको कुछ सुख था।

६—आधुनिक भारतमें कार्यगत जातीय-शिक्षाका लोप हो रहा है। किन्तु विज्ञान और साहित्यकी चर्चाकी अपूर्व स्फूर्ति हो रही है।

इसपर बहुतसे पाठक हमपर विगड़ कर कहगें कि तो फिर क्या स्वाधीनता और पराधीनता तुल्य है ? तो फिर पृथ्वीकी सब जातियाँ स्वाधीनताके लिए प्राणपण किये क्यों बैठी हैं ? जो लोग यह कहेंगे उनसे हमारा विनीत निवेदन यह है कि हम उस तत्त्वकी मीमांसा करने नहीं बैठे हैं। हम पराधीन जाति हैं—बहुत समय तक पराधीन ही रहेंगे। इसके विचारसे हमें कुछ प्रयोजन नहीं है। हमारा यह प्रबन्ध लिखनेका उद्देश्य केवल यही है कि प्राचीन भारतवर्षकी स्वाधीनताके कारण उस समयके भारतवासी आधुनिक भारतकी प्रजाकी अपेक्षा सुखी थे या नहीं। हमने इस प्रबन्धमें यह निर्णय किया है कि आधुनिक भारतमें ब्राह्मण-क्षत्रिय अर्थात् उच्च श्रेणीके लोगोंकी अवनति हुई और शूद्रोंकी अर्थात् साधारण प्रजाकी कुछ उन्नति हुई है।

बाहुबल और वाक्यबल।

इतिहासमें सामाजिक दुःख दूर करनेके केवल दो उपाय कहे गये हैं— बाहुबल और वाक्यबल। इन दोनों बलोंके संबंधमें हमें जो कुछ कहना है वह कहनेके पहले सामाजिक दुःखकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें कुछ कहना आवश्यक जान पड़ता है।

मनुष्यके दुःखके तीन कारण हैं।–(१) कुछ दुःख जड़ पदार्थोंके दोषसे होते हैं। बाह्यजगत् कुछ नियमोंके अधीन होकर चलता है—कुछ शक्तियोंके द्वारा शासित हो रहा है। मनुष्य भी बाह्यजगतका एक अंश है। इस कारण उसपर भी वे ही शक्तियाँ शासन करती हैं। नैसर्गिक नियमोंका उल्लँघन करनेसे रोग आदि कष्ट देते हैं, भूख-प्यास पीड़ा पहुँचाती है और अनेक प्रकारके शारीरिक व मानसिक दुःख भोगने पड़ते हैं। (२) बाह्यजगतकी तरह अन्तर्जगत् भी और एक मनुष्यके दुःखका कारण है। कोई पराई बढ़ती देखकर सुख पाता है और कोई दुःख पाता है। कोई इन्द्रियसंयमसे सुखी होता और किसीके लिए इन्द्रियसंयम घोर दुःख है। पृथ्वीके सब काव्यग्रन्थोंका इसी श्रेणीका दुःख ही आधार है। (३) मनुष्यके दुःखका तीसरा कारण समाज है। मनुष्य सुखी होनेके लिए समाजबन्धनमें पड़ता है। परस्परकी सहायतासे परस्पर अधिक सुखी होनेकी आशासे सब मिलकर रहते हैं। इससे विशेष उन्नति अवश्य होती है, किन्तु बहुत अमंगल भी होते हैं। समाजमें दुःख भी है। दारिद्र्यका दुःख सामाजिक दुःख है। जहाँ समाज नहीं है, वहाँ दारिद्र्य भी नहीं है।

कुछ सामाजिक दुःख समाजकी स्थापनाके ही फल हैं—जैसे गरीबी। जैसे प्रकाशके साथ अन्धकार अवश्य होता है वैसे ही दारिद्र्य आदि कुछ दुःख भी समाजके साथ लगे हुए हैं *। इन सब सामाजिक दुःखोंका

---

* प्रकाश और छायाकी उपमा संपूर्ण और शुद्ध है। यह सत्य है, कि हम अपने मनमें ऐसे एक जगतकी कल्पना कर सकते हैं, जहाँ प्रकाशक सूर्यके

लोग यूरोपमें सोशियालिस्ट, कम्युनिस्ट आदि नामोंसे प्रसिद्ध हैं। स्वानुवर्त्तिताके साथ समाजका जो विरोध है उसे कम करनेके लिए जान स्टुअर्ट मिल "Liberty" (स्वाधीनता) नामका ग्रन्थ लिख गये हैं। बहुत लोग इस सामाजिक दुःख... प्राप्त वाक्यके समान मानते हैं। अनिवार्यका निवारण हैं। उस चेष्टाका इतिहास ... दुःखकी भी मात्रा कम की जा सकती है। नीति और राजनीति, इन दो शास्त्रोंका ... उसकी यन्त्रणा घटाई जा सकती है।

इन दो प्रकारके सामाजिक दुःखोंको मैं कुछ ... करनेकी चेष्टामें लगे हैं उनके चेष्टा करूँगा। स्वाधीनताकी हानि एक प्रकारका दुःख

समाजमें रहनेपर अवश्य ही स्वाधीनताकी कुछ हानि ...त है। किन्तु अन्य जितने मनुष्य समाजमें हैं, मैं, समाजमें रह कर, सबके कु...ध्य है। उन्हीं हूँ। समाज-संचालकोंका तो मुझपर पूर्ण अधिकार है। अतएव स्वा...का इति-हानि यह एक समाजका नित्य दुःख है।

स्वानुवर्त्तिता एक परमसुख है और उसकी क्षति परमदुःख है। जगदीश्वरने हमको जो शारीरिक और मानसिक वृत्तियाँ दी हैं उनकी स्फूर्त्तिसे ही हमको मानसिक और शारीरिक सुख मिलता है। यदि उन्होंने हमको आँखें दी हैं तो देखनेकी सब चीजोंके देखनेसे ही हमको आँखोंका सुख मिल सकता है। आँखें पाकर अगर हम उन्हें सदा बंद ही किये रहें तो आँखोंके सम्बन्धमें हम सदा दुखिया रहे। अगर हम कभी कभी या किसी किसी वस्तुके संबंधमें आँखें बंद करनेके लिए बाध्य हुए, तो हम आँखके सम्बन्धमें कुछ अंशमें दुखी ठहरे। हमको बुद्धि मिली है। बुद्धिकी स्फूर्ति ही हमारा सुख है। अगर हमें अपनी बुद्धिको सदा परिमार्जित करने और अपनी इच्छाके अनुसार चलानेका अवसर न मिला, तो हम उतना ही बुद्धिके सम्बन्धमें दुखिया हुए। अगर हमें किसी विशेष बातमें बुद्धिसे काम न लेनेके लिए बाध्य बना दिया गया तो हम उतना ही बुद्धिके संबंधमें दुखी ठहरे।

सिवा और कुछ नहीं—अतएव वहाँ प्रकाश है, छाया नहीं है। वैसे ही हम अपने मनमें ऐसे एक समाजकी भी कल्पना कर सकते हैं, जिसमें सुख है, दुःख नहीं है। किन्तु वह जगत् और समाज दोनों ही केवल मनके लड्डू और अस्तित्वशून्य हैं।

बाहुबल और वाक्यबल।

इतिहासमें सामाजिक दुःख दूर करनेके केवल दो उपाय कहे गये हैं— बाहुबल और वाक्यबल। इन दोनों बलोंके संबंधमें हमें जो कुछ कहना है वह कहनेके पहले सामाजिक दुःखकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें कुछ आवश्यक जान पड़ता है।

मनुष्यके दुःखके तीन कारण हैं।–(१)
दोषसे होते हैं। बाह्यजगत् कुछ नियमों
शक्तियोंके द्वारा शासित हो रहा है
है। इस कारण उसपर भी वे ही
मोंका उल्लँघन करनेसे रोग
है और अनेक प्रकारके शारी
बाह्यजगतकी तरह अन
कोई पराई बढ़ती
इन्द्रियसंयमसे सु
पृथ्वीके सब
मनुष्यके दु
समाजबन्
होनेव
है, वि
दुःख
नहीं है

कुछ
जैसे प्र
दुःख

* प्र
इस अप

डालनेवाली ह।
आ चुकी है। असामाजिक अवस्थामें कोई
ेल और पशु सबको आहारके लिए मिल सकते
की छाँहमें किसीका इजारा नहीं है। खाना, पीना
ना शरीर धारण करनेके लिए आवश्यक है, उससे अधिक
ता। न वैसा करनेकी कोई आवश्यकता समझता है और न
ती है। इसी कारण एककी अपेक्षा दूसरा गरीब नहीं हो सकता।
कारण मानना पड़ता है कि असामाजिक अवस्थामें दरिद्रता नहीं है।
ारिद्र्य तो एकसे दूसरेका मुकाबिला करनेकी बात है। वही तारतम्य या
एकका दूसरेसे मुकाबिला सामाजिकताका नित्य फल है। दारिद्र्य इसीसे
सामाजिकताका नित्य कुफल है।

ये सब सामाजिकताके फल हैं। जबतक मनुष्य समाजबद्ध रहेगा तब तक ये नित्य दोष भी बने रहेंगे। किन्तु और भी कुछ सामाजिक दुःख हैं, जो अनित्य हैं और मिटाये जा सकते हैं। बहुत लोग कहते हैं कि इस देशमें जो विधवायें ब्याह नहीं कर सकतीं, यह सामाजिक कुप्रथा—सामाजिक दुःख है, स्वाभाविक नहीं है। समाजकी गति फिरते ही यह दुःख दूर हो सकता है। हिन्दूसमाजके सिवा अन्य समाजमें यह दुःख नहीं है। ऐसे ही स्त्रियाँ सम्पत्तिकी अधिकारिणी नहीं हो सकतीं, यह विलायती समाजका एक सामाजिक दुःख है। व्यवस्थापक समाजकी लेखनीकी एक सतरसे यह दुःख दूर हो सकता है। अनेक समाजोंमें यह दुःख नहीं है। भारतवर्षके लोग अपने देशमें राजकाजके ऊँचे पदोंको नहीं पासकते, यह एक दूर हो सकनेवाले सामाजिक दुःखका उदाहरण है।

जो सामाजिक दुःख नित्य और अनिवार्य हैं, उन्हें भी दूर करनेके लिए मनुष्य यत्न करते हैं। सामाजिक दरिद्रताको दूर करनेकी चेष्टा करनेवाले

लोग यूरोपमें सोशियालिस्ट, कम्युनिस्ट आदि नामोंसे प्रसिद्ध हैं। स्वानुवर्त्तिताके साथ समाजका जो विरोध है उसे कम करनेके लिए जान स्टुअर्ट मिल "Liberty" (स्वाधीनता) नामका ग्रन्थ लिख गये हैं। बहुत लोग इस ग्रन्थको देवप्रसादसे प्राप्त वाक्यके समान मानते हैं। अनिवार्यका निवारण असंभव है। किन्तु अनिवार्य दुःखकी भी मात्रा कम की जा सकती है। सांघातिक रोगकी भी चिकित्सा है—उसकी यन्त्रणा घटाई जा सकती है। इस कारण जो लोग सामाजिक दुःख दूर करनेकी चेष्टामें लगे हैं उनके परिश्रमको वृथा समझनेका कोई कारण नहीं है।

नित्य और अपरिहार्य सामाजिक दुःखोंका उच्छेद असंभव है। किन्तु अन्य सामाजिक दुःखोंका मूलोच्छेद संभव और मनुष्यके द्वारा साध्य है। उन्हीं दुःखोंको दूर करनेमें मनुष्य-समाज सदा व्यस्त रहता है। मनुष्यका इतिहास उसी व्यस्तताका इतिहास है।

कहा जा चुका है कि समाजके सब नित्य दुःख समाजकी स्थापनाके ही अपरिहार्य फल हैं—समाजकी सृष्टिसे ही वे उत्पन्न हुए हैं। अब प्रश्न यह है कि अन्य सामाजिक दुःखोंका कारण क्या है? वे समाजका अपरिहार्य फल न होनेपर भी क्यों होते हैं? उनके निवारणके लिए इस प्रश्नकी मीमांसा होना बहुत आवश्यक है।

इस प्रकारके दुःखोंकी सृष्टि सामाजिक अत्याचारसे होती है। जान पड़ता है, पहले उदाहरणके तौरपर अत्याचारके बारेमें कह देना ठीक होगा, नहीं तो पाठक कहेंगे कि समाजके ऊपर अत्याचार किसका और कैसा? शक्तिके अविहित प्रयोगको अत्याचार कहते हैं। देखो, माध्याकर्षण आदि जो नैसर्गिक शक्तियाँ हैं वे एक ही नियम पर चलती हैं—उसमें कभी कमी-बेशी नहीं होती। वह नियम विधिवद्ध और अनुल्लङ्घनीय है। किन्तु जो शक्तियाँ मनुष्यके हाथमें हैं उनके नियमोंमें ऐसी स्थिरता नहीं है। जो शक्ति मनुष्यके हाथमें है उसका प्रयोग विहित भी हो सकता है और अविहित भी हो सकता है। जितनी शक्तिके प्रयोगसे उद्देश्य सिद्ध हो और किसीका कुछ अनिष्ट न हो, वही विहित प्रयोग है। उससे अधिक अविहित प्रयोग है।

बारूदकी शक्तिके विहित प्रयोगसे शत्रु मरते हैं और अविहित प्रयोगसे तोप फट जाती है। शक्तिका यह अतिरिक्त प्रयोग ही अत्याचार है।

मनुष्य शक्तिका आधार है। समाज मनुष्योंका समूह है और इस लिए वह भी शक्तिका आधार है। उस शक्तिके विहित प्रयोगमें ही मनुष्यका मङ्गल है—दिनोंदिन सामाजिक उन्नति होनेकी संभावना है। अविहित प्रयोगका फल सामाजिक दुःख है। सामाजिक शक्तिका वही अविहित प्रयोग सामाजिक अत्याचार है।

बात अभीतक स्पष्ट नहीं हुई। सामाजिक अत्याचार तो समझमें आ गया, किन्तु अत्याचार करता कौन है? किसके ऊपर अत्याचार होता है? समाज तो मनुष्योंका समूह है। तो क्या ये सब मनुष्य मिलकर अपने ही ऊपर अत्याचार करते हैं? अथवा परस्परकी रक्षाके लिए जिन्होंने समाजबन्धनको स्वीकार किया है वे ही परस्पर अत्याचार करते हैं? है यही, लेकिन ठीक यही भी नहीं कहा जा सकता। स्मरण रखना चाहिए कि अत्याचार शक्तिहीका होता है। जिसके हाथमें सामाजिकशक्ति है, वही अत्याचार करता है। जैसे ग्रह आदि जड़-पिण्डोंकी माध्याकर्षणशक्ति केन्द्रनिहित है, वैसे ही समाजकी भी एक प्रधानशक्ति केन्द्रनिहित है। वह शक्ति शासन-शक्ति है और समाजके केन्द्र राजा अथवा सामाजिक शासनकर्ता लोग होते हैं। समाज-रक्षाके लिए समाजके शासनकी आवश्यकता है। अगर सभीके हाथमें शासन हो तो अनियम और मतभेदके कारण शासन होना असंभव हो जाय। इसी कारण हरएक समाजमें शासनका काम एक या उससे अधिक व्यक्तियोंको सौंप दिया जाता है। उन्हींके हाथमें समाजकी शासन-शक्ति रहती है, वे ही सामाजिक केन्द्र होते हैं। वे ही अत्याचार करते हैं। वे मनुष्य हैं और मनुष्यमात्र भ्रम और आत्मादरके भावसे खाली नहीं है। वे भ्रान्त होकर समाजके ऊपर उसीकी दी हुई शासनशक्तिका अविहित प्रयोग करते हैं। आत्मादरके कारण भी कभी कभी वे उस शक्तिका अविहित प्रयोग करते हैं।

तो अब एक प्रकारके सामाजिक अत्याचारीका पता लग गया। वे राजपुरुष हैं और समाजका अवशिष्ट अंश अत्याचारका पात्र है। किन्तु असलमें इस संप्रदायके अत्याचारी केवल राजा या राजपुरुष ही नहीं हैं। जो

लोग समाजपर शासन करते हैं वे ही इस सम्प्रदायके अत्याचारी हैं। प्राचीन भारतवर्षके ब्राह्मग राजपुरुष नहीं गिने जाते थे, तथापि वे समाजके प्रधान शासक थे। आर्योंके समाजको वे लोग जिधर घुमाते फिराते थे उधर ही वह घूमता फिरता था। समाजको वे जो जंजीर पहनाते थे, समाज अलंकार समझकर उसे पहन लेता था। मध्यकालिक यूरोपके धर्मयाजक भी इसी तरहके थे—राजपुरुष न होकर भी वे यूरोपियन समाजके शासक और घोर अत्याचारी थे। पोपगण यूरोपके राजा नहीं थे—थोड़ीसी भूमिके राजा थे, किन्तु सारे यूरोपपर घोर अत्याचार कर गये हैं। ग्रेगरी या इनोसेण्ट, लिओ या आड्रियन यूरोपमें जितना अत्याचार कर गये हैं उतना दूसरे फिलिप, चौदहवें लुई, आठवें हेनरी और प्रथम चार्ल्स भी नहीं कर सके।

केवल राजपुरुषों और धर्मयाजकोंको ही दोष नहीं दिया जा सकता। इस समय इंग्लैंडमें राजा या रानी, किसी प्रकारका अत्याचार करनेकी क्षमता नहीं रखते—शासनशक्ति उनके हाथमें नहीं है। इस समय इँग्लैंडमें यथार्थ शासनशक्ति एडीटरोंके हाथमें है। अतएव इँग्लैंडके एडीटर लोग अत्याचारी हैं। जहाँ सामाजिक शक्ति है वहीं सामाजिक अत्याचार है।

किन्तु यह बात नहीं है कि केवल शासक और समाजके व्यवस्थापक लोग ही अत्याचारी हों। अन्य प्रकारके सामाजिक अत्याचारी भी हैं। जिन विषयोंमें न राजशासन है और न धर्मशासन है—किसी प्रकारके शासनकर्ताका शासन नहीं है—उन विषयोंमें समाज किनके मत पर चलता है? अधिकांश लोगोंके मतपर। जहाँ समाजका मत एक है, वहाँ कुछ भी गड़बड़ नहीं है—कोई अत्याचार नहीं है। किन्तु इस प्रकारका एक मत होना बहुत दुर्लभ है। मतभेद होनेपर अधिकांशके मतके अनुसार ही थोड़े लोगोंको चलना पड़ता है। थोड़ा अंश अगर भिन्नमतावलम्बी होता है तो भी, और अगर वह अधिकांशके मतके अनुसार काम करनेको घोरतर दुःख समझता है तो भी, उसे अधिकांशके मतके अनुसार ही चलना पड़ता है। नहीं तो समाजका अधिक अंश थोड़े अंशको अपनेसे अलग कर देगा, या अन्य कोई सामाजिक दण्ड देकर पीड़ा पहुँचावेगा। यह घोरतर सामाजिक अत्याचार है। यह अल्पांशके ऊपर अधिकांशका अत्याचार कहलाता है।

इस देशमें अधिकांशका मत है कि हिन्दूके घर पैदा होकर कोई विधवाका ब्याह न कर सकेगा या समुद्रयात्रा न कर सकेगा। अल्पांशका मत है विधवाका ब्याह करना अवश्य कर्त्तव्य है और इंग्लैंडकी यात्रा परम इष्ट है। किन्तु यदि यह अल्पांश अपने मतके अनुसार कार्य करे—विधवा-कन्याका ब्याह करे और विलायत जाय, तो अधिकांश उसे समाजसे बाहर कर देगा। यही अधिकांशका अल्पांशके ऊपर किया गया अत्याचार है।

इँग्लैंडमें अधिकांश लोग ईसाके भक्त और ईश्वरवादी हैं। जो अनीश्वरवादी है और ईसाका भक्त नहीं है, वह साहस करके अपने मतको वहाँ प्रकट नहीं कर सकता। प्रकट करनेसे उसे अनेक प्रकारकी सामाजिक पीड़ाओंसे पीड़ित होना पड़ता है। जान स्टुअर्ट मिल जिन्दगी भर अपनी अभक्तिको व्यक्त नहीं कर सके, व्यक्त न करके भी, केवल सन्देहपात्र होकर भी, पार्लियामेंटमें प्रवेश करनेके समय उन्हें अनेक विघ्न-बाधाओंसे तंग होना पड़ा था। मृत्युके बाद उन्हें अनेक गालियाँ भी खानी पड़ीं। यह अत्यन्त घोर सामाजिक अत्याचार है।

अतएव सामाजिक अत्याचारियोंकी दो श्रेणियाँ हैं। एक समाजके शासक और व्यवस्थापक और दूसरे समाजके अधिकांश लोग। इन्हींके अत्याचारसे सामाजिक दुःखकी उत्पत्ति होती है। ये सामाजिक दुःख समाजकी अवनतिके कारण हैं। इनका निराकरण मनुष्यसाध्य और मनुष्यके लिए आवश्यक कर्त्तव्य है। किन उपायोंसे इनका निराकरण हो सकता है? ऐसे दो उपाय हैं—एक बाहुबल और दूसरा वाक्यबल।

पहले यह समझाया जायगा कि बाहुबल किसे कहते हैं और वाक्यबल किसे कहते हैं। इसके बाद इन दोनों बलोंका प्रयोग समझाया जायगा और दोनोंका भेद और तारतम्य भी दिखाया जायगा।

किसीको यह बतानेकी जरूरत नहीं है कि जिस बलके द्वारा बाघ मृगके बच्चेको मारकर खाजाता है और जिस बलसे आस्टलिज या सेडन जीता गया था—दोनों ही बाहुबल हैं। मैंने अभी लिखते लिखते देखा, एक छिपकली मक्खीका पकड़कर निगल गई। सिस्टिससे सिकन्दर तक जिसने जितना

साम्राज्य स्थापित किया है—संसारके बड़े बड़े सेनापतियों और बादशाहोंमेंसे जिस किसीने जो साम्राज्य स्थापित और रक्षित किया है उसका बल और इस भूखी छिपकलीका बल एक ही बल—अर्थात् बाहुबल है। सुल्तान महमूद सोमनाथका मन्दिर लूट कर ले गया और यह काले मुँहकी बिल्ली मूसा पकड़कर भाग गई; दोनों ही वीर हैं, दोनोंके बाहुबल है। सोमनाथके मन्दिर और मेरे कपड़े काटनेवाले मूसेमें बहुत अन्तर है, यह बात मैं स्वीकार करता हूँ। किन्तु महमूदके लाखों सिपाहियों और अकेली बिल्लीमें भी बड़ा अन्तर है। संख्या और शरीरमें अन्तर होनेपर भी दोनोंके पराक्रममें बहुत अधिक अन्तर नहीं देख पड़ता। सागर भी जल है, और ओसका बूँद भी जल है। महमूदका वह पराक्रम और छिपकली या बिल्लीका पराक्रम एक ही है। दोनों कार्य बाहुबलके पराक्रम हैं। पृथ्वीके वीरपुरुष धन्य हैं और उनके गुणोंका कीर्तन करनेवाले 'हिराडोट्स' से 'के' और 'किंगलेक' साहब तक धन्य हैं।

यहाँ पर कोई महाशय कह सकते हैं कि केवल बाहुबलसे कभी कोई साम्राज्य नहीं स्थापित हुआ। केवल बाहुके बलसे पानीपत या सेडन नहीं जीता गया—केवल बाहुके बलसे नेपोलियन या मार्लबरो वीर नहीं हुए। हम स्वीकार करते हैं कि कुछ कौशल—अर्थात् बुद्धिबल—बाहुबलके साथ संयुक्त हुए बिना कार्यकारिता नहीं होती। किन्तु कौशल भी केवल मनुष्यवीरका कार्य नहीं है। क्या आप यह समझते हैं कि छिपकली मक्खीको या बिल्ली मूसेको बिना कौशलके पकड़ती है? बुद्धिबलके संयोगके बिना बाहु-बलकी स्फूर्ति नहीं होती,—बुद्धिबलके बिना जीवके किसी भी बलकी स्फूर्त्ति नहीं होती।

अतएव यह स्वीकार करना पड़ता है कि जिस बलसे पशु और मनुष्य दोनों प्रधानतः स्वार्थसाधन करते हैं वही बाहुबल है। असलमें उसे पशुबल कहना चाहिए, किन्तु उसमें सब प्रकारके कार्यकी क्षमता है और निष्पत्तिका वही अन्तिम उपाय है। जिसकी निष्पत्ति और किसी तरह नहीं होती, उसकी निष्पत्ति बाहुबलसे होती है। ऐसी कोई गाँठ नहीं जो छुरीसे न कटे, ऐसा कोई पत्थर नहीं जो चोटसे न टूटे। बाहुबल इस संसारकी ऊँची

अदालत है—सब अपीलोंके बाद यहीं अपील होती है । इसके ऊपर अपील नहीं है । बाहुबल पशुका बल है, किन्तु मनुष्य अभीतक किसी किसी अंशमें पशु है, इस लिए बाहुबल ही मनुष्यका प्रधान अवलम्बन है ।

किन्तु मनुष्य और पशुके बाहुबलमें एक भारी अन्तर है । पशुगण नित्य ही बाहुबलका व्यवहार करते हैं, किन्तु मनुष्यको नित्य बाहुबलके प्रयोगका प्रयोजन नहीं पड़ता । इसके दो कारण हैं । बाहुबल अनेक पशुओंके पेट भरनेका उपाय है । दूसरा कारण यह है कि पशुगण प्रयुक्त-बाहुबलके वशीभूत अवश्य हैं, किन्तु प्रयोगके पहले प्रयोगकी संभावनाको वे समझे हुए नहीं रहते । इसके सिवा समाजबद्ध न होनेके कारण वे बाहुबलके प्रयोजनका निवारण नहीं कर सकते । एक पुस्तकमें यह कथा लिखी हुई है कि एक जंगलके पशुओंने जब देखा कि उनके साथी पशुओंको नित्य सिंह मार मारकर खाजाता है तब उन्होंने सिंहके साथ यह प्रबन्ध कर लिया कि नित्य पशुओंपर अत्याचार करनेकी कोई जरूरत नहीं है, नित्य सिंहके खानेके लिए एक पशु दे दिया जायगा । यहाँपर पशुओंने समाजबद्ध मनुष्यके ऐसा काम किया । सिंहके द्वारा किये जानेवाले नित्यके बाहुबलके प्रयोगको रोक दिया । मनुष्य बुद्धिके द्वारा समझ सकता है कि किस अवस्थामें बाहुबलके प्रयुक्त होनेकी सम्भवना है और सामाजिक बन्धनके द्वारा उसका निवारण किया जा सकता है । जितने राजा हैं वे सब बाहुबलसे राजा हैं । किन्तु नित्य बाहुबलके प्रयोगद्वारा उन्हें प्रजापीड़न नहीं करना पड़ता । प्रजा देखती है कि लाखों सिपाही राजाकी आज्ञाके अधीन हैं । राजाकी आज्ञा न मानना या उसका उल्लंघन करना उनके लिए केवल ध्वंसका कारण होगा । अतएव प्रजा बाहुबलके प्रयोगकी संभावना देखकर राजाकी आज्ञाका विरोध नहीं करती । इस तरह बाहुबलका प्रयोग भी नहीं होता और बाहुबलके प्रयोगका उद्देश्य सिद्ध हो जाता है । इधर लाखों सेना जो राजाकी आज्ञाके अधीन है उसका भी कारण प्रजाका धन और अनुग्रह ही है । प्रजाका धन जो राजाके खजानेमें है और प्रजाका अनुग्रह जो राजाको प्राप्त है उसका कारण सामाजिक नियम है । अतएव इस जगतपर बाहुबलका प्रयोग न होनेका मुख्य कारण मनुष्यकी दूरदर्शिता और गौण कारण समाजबन्धन है ।

हम इस प्रबन्धमें गौण कारणको छोड़ भी दे सकते हैं। हम इस बातकी आलोचना कर रहे हैं कि सामाजिक अत्याचार किस किस बलसे निवृत्त होते हैं। समाजनिबद्ध हुए बिना सामाजिक अत्याचारका अस्तित्व ही नहीं हो सकता। समाजबन्धन सब सामाजिक अवस्थाओंका नित्य कारण है। जो नित्य कारण है वह विकृतिके कारणके अनुसन्धानमें छोड़ दिया जा सकता है।

ऐसा समझा जा चुका है कि ऐसा करनेसे हमारे शासनके लिए बाहु-बलका प्रयोग होगा—यह विश्वास ही बाहुबलके प्रयोगके निवारणका मूल कारण है। किन्तु मनुष्यकी दूरदर्शिता सब समय समान नहीं रहती। वह सब समय बाहुबलके प्रयोगकी आशंका नहीं करती। अक्सर देखा जाता है कि समाजमें जिनकी दृष्टि तीक्ष्ण है वे ही उसे समझ पाते हैं कि इस अवस्थामें बाहुबलके प्रयोगकी संभावना है। वे औरोंको वह अवस्था समझा देते हैं। लोग समझ जाते हैं। समझते हैं कि यदि हम इस समय कर्त्तव्य-साधन न करेंगे तो हमारे ऊपर बाहुबलके प्रयोगकी संभावना है। उसके अशुभ फलकी आशंका करके विपरीत मार्ग पर चलनेवाले लोग ठीक राह पर चलने लगते हैं।

अतएव जब समाजका एक भाग दूसरे भागको पीड़ित करता है तब उसके प्रतिकारके दो उपाय हैं। उनमेंसे एक बाहुबलका प्रयोग है। जब राजा प्रजाको उत्पीड़ित करके सहजमें निरस्त नहीं होता तब प्रजा बाहुबलका प्रयोग करती है। यदि कभी कोई राजाको यह समझा सकता है कि इस प्रकारका उत्पीड़न करनेसे प्रजाके द्वारा बाहुबलके प्रयोगकी आशंका है तो राजा अत्याचारसे निरस्त हो जाता है।

इँग्लैंडके प्रथम चार्ल्स प्रजाके बाहुबलसे शासित हुए थे, यह सबको मालूम है। चार्ल्सके पुत्र द्वितीय जेम्स बाहुबलके प्रयोगका उद्यम देखकर देशत्यागी हो गये थे। किन्तु साधारणतः इस प्रकारके बाहुबलके प्रयोगका प्रयोजन नहीं होता। बाहुबलकी आशंका ही यथेष्ट है। असीमप्रतापशाली अगर समझें कि किसी काममें प्रजा असन्तुष्ट होगी तो वे उस कार्यमें कभी हाथ न डालें। सन् १८५७—५८ में देखा गया है कि यद्यपि भारतकी प्रजा

बाहुबलमें उनके समकक्ष नहीं है, तथापि प्रजाके साथ [illegible] सुखदायक नहीं है। अतएव वे बाहुबलके प्रयोगकी आशंका देखकर अपने वाञ्छित मार्गमें गमन नहीं करते।

अतएव देखा जाता है कि केवल भावी फल समझा सकनेहीसे बिना प्रयोगके बाहुबलका कार्य सिद्ध हो जाता है। इस प्रवृत्ति और निवृत्तिको देनेवाली शक्ति और एक दूसरा बल है। उसमें वाक्यके द्वारा समझाना पड़ता है। इसीसे वह यहाँ पर वाक्यबलके नामसे लिखा जाता है।

यह वाक्यबल अत्यन्त आदरणीय पदार्थ है। बाहुबलसे मनुष्य संहार आदि विविध अनिष्ट होते हैं। किन्तु वाक्यबल बिना रक्तपातके—बिना अस्त्राघातके—बाहुबलका काम निकाल देता है। अतएव इसकी विशेष रूपसे समालोचना होनी चाहिए कि यह वाक्यबल क्या है और इसका प्रयोग, लक्षण और विधान किस प्रकारका है। हमारे देशमें बाहुबलके प्रयोगकी कोई संभावना नहीं है और वर्तमान अवस्थामें वह अकर्त्तव्य भी है। सामाजिक अत्याचारके निवारणका एक मात्र उपाय वाक्यबल है। अतएव वाक्यबलकी उन्नति खास तौरसे की जानी चाहिए।

वास्तवमें बाहुबलकी अपेक्षा सब अंशोंमें वाक्यबल श्रेष्ठ है। अबतक बाहुबलसे संसारकी अवनति ही हुई है। उन्नति जो कुछ हुई है वह वाक्य-बलसे। सभ्यताकी जो कुछ उन्नति हुई है वह वाक्यबलसे ही हुई है। समाजनीति, राजनीति, धर्मनीति, साहित्य, विज्ञान, शिल्प आदि जिस चीजकी उन्नति हुई है, वाक्यबलसे हुई है। वक्ता, लेखक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, नीतिवेत्ता, धर्मवेत्ता, व्यवस्थावेत्ता आदि सबका बल वाक्य-बल है।

इससे यह कोई न समझे कि बाहुबलके प्रयोगका निवारण ही वाक्य-बलका परिणाम है, या इसीके लिए वाक्यबलका प्रयोग होता है। मनुष्य कुछ कुछ पशुचरित्रको छोड़कर उन्नत अवस्थाको प्राप्त हुआ है। अक्सर मनुष्य भयभीत न होकर भी अच्छे काम करता है। यदि किसी समय एकदम समाज भरकी किसी विशेष अच्छे काममें प्रवृति उत्पन्न हो तो वह सत्कार्य अवश्य अनुष्ठित होता है। कभी कभी ज्ञानीके उपदेशके बिना

ऐसे सत्पथमें सर्वसाधारणकी प्रवृत्ति नहीं होती। साधारण मनुष्य अज्ञ होते हैं, चिन्ताशील व्यक्ति उन्हें शिक्षा देते हैं। वे शिक्षा देनेवाले उपदेश जब यथाविहित बलशाली होते हैं तभी समाजके हृदयमें स्थान पाते हैं। जो बिल्कुल समाजके हृदयमें बस जाता है उसे समाज फिर छोड़ नहीं सकता—उसके अनुष्ठानमें प्रवृत्त होता है। उपदेशके वाक्यबलसे आन्दोलित समाजमें विप्लव उपस्थित हो सकता है। वाक्यबलसे जैसा सामाजिक इष्ट सिद्ध होता है वैसा होनेकी बाहुबलसे कभी संभावना नहीं।

मूसा, ईसा, शाक्यसिंह आदि बाहुबलसे बली नहीं थे, उनके पास केवल वाक्यबल था। किन्तु ईसा, शाक्यसिंह आदिके द्वारा पृथ्वीका जितना भला हुआ है उसका शतांश भी बाहुबलके द्वारा नहीं हुआ। यह बात नहीं है कि बाहुबलके द्वारा कभी समाजका इष्ट नहीं होता। आत्मरक्षाके लिए बाहुबल ही श्रेष्ठ है। अमेरिकाके प्रधान उन्नतिकर्त्ता बाहुबलवीर वाशिंगटन थे। हालैंड और बेलजियमके प्रधान उन्नतिकर्त्ता बाहुबलवीर विलियम थे। भारतवर्षकी आधुनिक दुर्गतिका कारण बाहुबलका अभाव ही है। किन्तु साधारणतः देखनेसे यह देख पड़ेगा कि बाहुबलकी अपेक्षा वाक्यबलसे ही जगतका कल्याण होता है। बाहुबल पशुका बल है। वाक्यबल मनुष्यका बल है। किन्तु केवल कुछ बक-बक कर लेना ही वाक्यबल नहीं है। कोरे वाक्यके बलको मैं वाक्यबल नहीं कहता। वाक्यसे जो व्यक्त होता है उसीको मैं वाक्यबल कहता हूँ। चिन्ताशील मनुष्य चिन्ताके द्वारा जगतके तत्त्वोंको अपने मनसे आविष्कृत करते हैं। वक्ता लोग वाक्यके द्वारा उन तत्त्वोंको लोगोंके हृदयमें जमाते हैं। इन दोनों बातोंके बलकी समष्टिको वाक्यबल कहते हैं।

ये दोनों बल प्रायः एक ही पुरुषमें पाये जाते हैं। कभी कभी दोनों बल भिन्न भिन्न पुरुषोंमें अलग अलग होते हैं। एकत्र हों, या अलग अलग हों, दोनोंका समवाय ही वाक्यबल है। [असमाप्त।]

प्यारका अत्याचार ।

लोगोंका विश्वास है कि केवल शत्रु अथवा स्नेह, दया, अनुकूलता आदिसे रहित व्यक्ति ही हमारे ऊपर अत्याचार करते हैं। किन्तु यह बात हमारे ध्यानमें नहीं आती कि उनकी अपेक्षा भी भारी अत्याचार करनेवाले एक श्रेणीके लोग हैं। जो प्यार करता है वही अत्याचार करता है। प्यार करनेसे ही अत्याचार करनेका अधिकार प्राप्त हो जाता है। मैं अगर तुमको प्यार करता हूँ तो तुमको मेरा मत मानना पड़ेगा, मेरी बात सुननी पड़ेगी, मेरा अनुरोध रखना पड़ेगा । तुमारा इष्ट हो या अनिष्ट, तुमको मेरा मत स्वीकार करना पड़ेगा। यह अवश्य स्वीकार करना पड़ता है कि जो प्यार करता है वह जान-बूझकर तुम्हारी बुराईके लिए तुमसे अनुरोध नहीं करेगा। किन्तु कौन कार्य मंगलजनक है और कौन असंगल-जनक, इसकी मीमांसा कठिन है। इस बारेमें अक्सर दो आदमियोंकी राय नहीं मिलती। ऐसी अवस्थामें कार्यकर्ता और उस कार्यका फल भोगनेवाला इस बातका पूर्ण अधिकारी है कि वह अपने मतके अनुसार ही कार्य करे। उसके मतके विरुद्ध उससे काम करानेका अधिकार केवल राजाको ही है। केवल राजा ही इस लिए इस बातका अधिकारी है कि हमलोगोंने उसे समाजका हित अहित जाननेवाला मानकर राज्यासन पर बिठलाया है । केवल राजाके ही सदसद्विवेकको अभ्रान्त मानकर उसे हमने अपनी प्रवृत्तियोंके दमन करनेका अधिकार दिया है। जो अधिकार हमने दिया है उसके अनुसार अगर वह कार्य करे तो उससे किसीके ऊपर अत्याचार नहीं हो सकता। परन्तु सब समय और सब विषयोंमें हमारी प्रवृत्तियोंके दमनका अधिकार उसे भी नहीं। हमारे जिस कार्यसे वह अन्यके अनिष्टका अनुमान करे उस कार्यकी प्रवृत्तिको रोकनेका ही उसे अधिकार है। जिस कार्यसे केवल हमारा ही अनिष्ट वह समझे उस कार्यकी प्रवृत्तिको रोकनेका उसे भी कोई अधिकार नहीं है *। जिससे केवल

* यदि राजाका ऐसा अधिकार स्वीकार किया जाय तो रोगका इलाज न करनेवालों अथवा लड़कपन या बुढ़ापेमें ब्याह करनेवालोंको भी राजदण्ड मिलना चाहिए। और अगर अस्वीकार किया जाय तो सतीदाह-निवारण आदि नियमोंका समर्थन नहीं किया जा सकता।

हमारा अनिष्ट है उससे निवृत्त होनेकी हमें सलाह देनेका मनुष्यमात्रको अधिकार है। राजा भी सलाह दे सकता है। किन्तु सलाहके सिवा हमें हमारी मर्जीके खिलाफ चलनेके लिए लाचार करनेका अधिकार किसीको नहीं है। समाजके सब लोगोंको अधिकार है कि वे दूसरेका अनिष्ट न करके हरएक कार्यको अपनी अपनी प्रवृत्तिके अनुसार संपादित करें। दूसरेका अनिष्ट करनेसे यह स्वेच्छाचार कहलायेगा और दूसरेका अनिष्ट न होनेसे इसे स्वानुवर्तिता कहेंगे। जो इस स्वानुवर्तितामें विघ्न डालता है, जो किसीका अनिष्ट न होनेके स्थानमें भी हमारे मतके विरुद्ध अपने मतको प्रबल करके उसके अनुसार कार्य करता है वही अत्याचारी है। राजा, समाज, और प्रणयी, ये तीन जन इस तरहका अत्याचार किया करते हैं।

राजाके अत्याचारको रोकनेका उपाय बहुत दिन पहले निकाला जा चुका है। समाजके इस अत्याचारको रोकनेके लिए पूर्वकालके कुछ पण्डितोंने अस्त्रधारण किया था। इस विषयमें जान स्टुअर्ट मिलका यत्न और विचारनिपुणता उनके माहात्म्यका परिचय देगी। किन्तु प्यारका अत्याचार रोकनेके लिए कभी किसीके यत्न करनेकी बात आजतक देखी सुनी नहीं गई। कवि लोग सर्वतत्त्वदर्शी और अनन्तज्ञानशाली होते हैं। वे कुछ नहीं छोड़ते। कैकेयीके अत्याचारसे दशरथकृत राम-वनवास, द्यूतमें आसक्त युधिष्ठिरके किये भाइयोंके निर्वासन और अन्यान्य सैकड़ों स्थानोंमें कविगण इस महती नीतिका प्रतिपादन कर गये हैं। किन्तु कवि-लोग नीतिवेत्ता नहीं होते और नीतिज्ञ लोगोंने प्रकाश्यरूपसे इस विषयमें कभी हस्तक्षेप नहीं किया है। जो कोई मन लगा कर लौकिक व्यापारों पर दृष्टि डालेगा, वह इस तत्त्वकी समालोचनाके विशेष प्रयोज-नीय होनेमें कोई संशय नहीं रख सकता। क्यों कि इस अत्याचारके करनेवाले अत्याचारी अनेक हैं। पिता-माता, भाई-बहन, स्त्री-स्वामी पुत्र-कन्या, आत्मीय-कुटुम्ब, सुहृद-भृत्य, जो कोई प्यार करता है, वही कुछ न कुछ अत्याचार और अनिष्ट करता है। तुम यह इच्छा किये बैठे हो कि अच्छे लक्षणोंवाली, अच्छे कुलकी, अच्छे चरित्रकी कन्या देख कर उसके साथ ब्याह करोगे। इसी बीचमें तुम्हारे बापने तुमसे बिना पूछे ही

किसी लड़कीके साथ तुम्हारे ब्याहकी बात पक्की कर ली। तुम यदि बालिग हो तो इस विषयमें पिताकी आज्ञा माननेके लिए बाध्य नहीं हो। किन्तु पितृप्रेमके वशीभूत होकर तुमको वही ब्याह करना पड़ा। मान लो, कोई गरीब है। दैवके अनुग्रहसे उसे कोई अच्छी जगह मिल गई और वह दूर देश जाकर गरीबीसे पीछा छुड़ानेका उद्योग कर रहा है। इसी बीचमें माताने रोना धोना मचा दिया। उसे अपनेसे दूर जानेके लिए मना किया। वह मातृप्रेमसे लाचार होकर रह गया। मातृप्रेमके अत्याचारसे उसने अपनेको सदाके लिए गरीबीके गढ़ेमें डाल दिया। लायक भाईके कमाये रुपयेको निकम्मे नालायक भाई नष्ट करते हैं। यह बिल्कुल ही प्यारका अत्याचार है। यह हिन्दू-समाजमें प्रत्यक्ष देख पड़ता है। भार्याके प्यारके अत्याचारका उदाहरण उद्धृत करनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं जान पड़ती; और स्वामीके अत्याचारके सम्बन्धमें धर्मसे इतना कह देना कर्त्तव्य है कि उनमेंसे कुछ प्यारके अत्याचार भी होते हैं, किन्तु अधिकांश अत्याचारोंका सम्बन्ध बाहुबलसे ही होता है।

मनुष्य-जीवन प्यारके अत्याचारोंसे पूर्ण है। मनुष्य सदासे अत्याचार-पीड़ित है। प्रथमावस्थामें बाहुबलका अत्याचार था। असभ्य जातियोंमें जो बली था वही पर-पीड़न करता था। कुछ समय बाद यह अत्याचार राजाके अत्याचार और धनके अत्याचारके रूपमें परिणत हो गया। यह अत्याचार किसी समाजसे बिल्कुल कभी नहीं उठाया जा सका। द्वितीय अवस्थामें धर्मका अत्याचार, जातीय अवस्थामें सामाजिकताका अत्याचार और सभी अवस्थाओंमें प्यारका अत्याचार पाया जाता है। इन चार प्रकारके अत्याचारोंमें प्यारका अत्याचार किसी अत्याचारकी अपेक्षा हीनबल या कम अनिष्ट करनेवाला नहीं है। बल्कि यह कहा जा सकता है कि राजा, समाज, या धर्मवेत्ता, कोई भी प्रणयीकी अपेक्षा बलवान् नहीं है। प्रणयीकी तरह कोई भी सदा सब घड़ी सब कामोंमें आकर हस्तक्षेप नहीं करता। इस कारण यह कहा जा सकता है कि प्यारका अत्याचार सबसे बढ़कर अनिष्टकारी है। अन्य अत्याचारोंको रोका जा सकता है—अन्य अत्याचारोंकी सीमा है। क्यों कि अन्यान्य अत्याचारियोंका विरोध करना सहज है।

प्रजा, प्रजापीड़क राजाको कभी गद्दीसे उतार देती है और कभी उसके प्राण ही ले लेती है। लोकपीड़क समाज त्याग किया जा सकता है। किन्तु धर्म और स्नेहके अत्याचारसे छुटकारा नहीं है। क्यों कि इनका विरोध करनेकी प्रवृत्ति ही नहीं होती। कभी कभी बकरीके बच्चेका सालन देखकर वैरागी बाबाकी लार टपक पड़ती है, किन्तु कभी वे गोस्वामीके मांस-भोजनके सम्बन्धमें विचार करनेकी इच्छाही नहीं करते कि वह उचित है या अनुचित। क्यों कि वे जानते हैं, इस लोकमें चाहे जितना कष्ट हो, पर परलोकमें तो गोलोक अवश्य ही मिलेगा।

मनुष्य जिन अत्याचारोंके अधीन है उनकी जड़ मनुष्यका प्रयोजन है। जड़ पदार्थको अपने वशमें किये विना मनुष्यजीवनका निर्वाह नहीं हो सकता। इस लिए बाहुबलका प्रयोजन है। इसी कारण बाहुबलका अत्याचार भी है। बाहुबलका फल बढ़ानेके लिए समाजका प्रयोजन है। उसके साथ ही समाजका अत्याचार भी है। जैसे परस्पर समाज बन्धनमें बँधे बिना मनुष्यजीवनका उद्देश्य सुसम्पन्न नहीं होता वैसे ही परस्पर आन्तरिक बन्धनमें बँधे विना मनुष्यजीवनका अच्छी तरह निर्वाह नहीं होता। अतएव समाजका जैसा प्रयोजन है वैसा ही, बल्कि उससे भी अधिक, प्रणयका प्रयोजन है। बाहुबल या समाजका अत्याचार होनेके कारण जिस तरह बाहुबल या समाजको मनुष्य त्याज्य या अनादरकी चीज नहीं समझते, उसीप्रकार प्रणयका अत्याचार होनेके कारण वह भी त्याज्य या अनादरणीय नहीं हो सकता। किन्तु जैसे मनुष्य अत्याचारी बाहुबल और समाजबलको परित्यक्त या अनादृत न करके धर्मके द्वारा उसे शान्त करनेकी चेष्टा करता है, वैसे ही प्रणयके अत्याचारको भी धर्मके द्वारा शान्त करनेका यत्न करना कर्तव्य है। धर्मका भी अत्याचार अवश्य है। धर्मका अत्याचार रोकनेके लिए अगर अन्य शक्तिका प्रयोग किया-जायगा तो उसका भी अत्याचार होगा। अत्याचारकी शक्ति स्वाभाविक है। यदि धर्मका अत्याचार शान्त कर सकनेवाली कोई शक्ति है तो वह ज्ञान है। किन्तु ज्ञानका भी अत्याचार है। इसका उदाहरण हितवाद और प्रत्यक्षवाद नामके दो दर्शन हैं। इन दोनोंके वेगसे हृदयसागरका बहुतसा हिस्सा सूखे बालूके टापुओंका रूप धारण करता जा रहा है। जान पड़ता है,

ज्ञानके अत्याचारपर शासन करनेके लिए मनुष्य किसी शक्तिका व्यवहार न कर सकेगा। कमसे कम इस समय तो यही समझमें आता है।

उसी तरह यह भी कहा जा सकता है कि प्रणयके ही द्वारा प्रणयका अत्याचार शान्त किया जा सकता है। हम स्वीकार करते हैं कि यह बात यथार्थ है। स्नेह यदि स्वार्थपरतासे शून्य हो तो यह हो सकता है। किन्तु साधारण मनुष्योंकी प्रकृति ऐसी है कि स्वार्थपरताशून्य प्यार इस संसारमें दुर्लभ है। इस बातके असली मतलबको न लेकर अनेक लोग मन-ही-मन इसका प्रतिवाद कर सकते हैं। वे कह सकते हैं कि जिस माताने स्नेहवश पुत्रको धन कमानेके लिए परदेश नहीं जाने दिया वह क्या स्वार्थपर है? बल्कि यदि वह स्वार्थपर होती तो पुत्रको धनकी खोजमें दूरदेश जानेके लिए मना न करती। क्योंकि कौन माता पुत्रकी कमाईका सुख नहीं भोगना चाहती? अतएव इस प्रकारके दर्शनमात्रकी आकांक्षा रखनेवाले स्नेहको बहुत लोग अस्वार्थपर स्नेह समझते हैं। किन्तु वास्तवमें यह खयाल ठीक नहीं है। यह स्नेह अस्वार्थपर नहीं है। जो लोग इसे अस्वार्थपर मानते हैं वे केवल धनपरायणताको ही स्वार्थपरता समझते हैं। जो धनकी कामना नहीं करता उसे वे स्वार्थपरतासे शून्य समझते हैं। वे यह नहीं समझ सकते कि धनलाभके अलावा पृथ्वी पर अन्यान्य सुख हैं और उनमेंसे किसी किसी सुखकी आकांक्षा धनकी आकांक्षासे अधिकतर वेगवाली है। जिस माताने धनका मोह त्यागकर पुत्र-मुख देखनेके सुखकी वासनासे पुत्रको सदाके लिए गरीब बना डाला, अथवा अपनी अवस्था सँभालनेका अवसर उसके हाथसे निकल जाने दिया उसने भी अपना सुख खोजा। वह धनका सुख नहीं चाहती, किन्तु पुत्रको सदा देखनेका सुख चाहती है। वह सुख माताका है, पुत्रका नहीं है। माताको देखनेसे अगर पुत्रको सुख हो तो हो, वह जुदी बात है। उसमें पुत्रकी प्रवृत्ति होनी चाहिए। माताने यहाँपर अपना एक सुख ढूँढ़ा—नित्य पुत्रका मुख देखना। उसकी अभिलाषा करके उसने पुत्रको दारिद्र्यके दुःखसे दुःखित बनाना चाहा। यहाँ माता स्वार्थपर है; क्योंकि उसने अपने सुखके लिए अन्यको दुखी किया।

मनुष्यके स्नेहका अधिक अंश इसी तरह प्रणयी और प्रणय-पात्र दोनोंके चित्तको सुखदायक, किन्तु स्वार्थपर पशुचरित्र होता है। केवल प्रणयी अन्य सुखकी अपेक्षा प्रणयसुखका अभिलाषी होता है, इसी लिए लोग ऐसे स्नेहको अस्वार्थपर कहते हैं। किन्तु स्नेहका जो सुख है वह स्नेहयुक्तका है। स्नेहयुक्त, अर्थात् स्नेह करनेवाला, अपने सुखकी आकांक्षा करता है; इस लिए साधारण मनुष्य-स्नेहको स्वार्थपर-वृत्ति कहना अनुचित नहीं।

किन्तु स्नेह मनुष्यके हृदयमें स्वार्थसाधनके लिए नहीं स्थापित हुआ है। मनुष्यके चरित्रने अबतक वैसा उत्कर्ष प्राप्त नहीं किया, इसीसे मनुष्यस्नेह अबतक पशुवत् है। पशुवत् इस लिए है कि पशुओंमें भी दाम्पत्यके अतिरिक्त परस्पर वत्स-स्नेह, दाम्पत्य-प्रणय और वात्सल्य, आदि अन्य प्रकारके प्रणय हैं। सन्तानका स्नेह पशुओंमें मनुष्यकी अपेक्षा कम नहीं है।

स्नेहका यथार्थ स्वरूप ही अस्वार्थपरता है। जिस माताने पुत्रके सुखके लिए पुत्रमुखदर्शनसुखकी कामना छोड़ दी, वही यथार्थ स्नेह करनेवाली है। जो प्रणयी प्रणय-पात्रकी भलाईके लिए प्रणयसुख-भोगको छोड़ सका, वही सच्चा प्रणयी है।

जब तक साधारण मनुष्योंका प्रेम इस तरह विशुद्धताको प्राप्त न करेगा तब तक मनुष्यके प्यारसे स्वार्थपरताका कलंक दूर न होगा और स्नेहकी यथार्थ स्फूर्ति न होगी। जहाँ प्यारको ऐसा शुद्धरूप प्राप्त होगा, या जिसका प्यार ऐसे शुद्धरूपको प्राप्त हो चुका है, वहीं प्यारके द्वारा प्यारका अत्याचार रोका जा सकता है और रोका भी जाता है। ऐसे शुद्ध प्रणयके प्रणयी मनुष्य दुर्लभ नहीं हैं। किन्तु इस प्रबन्धमें उनकी बात नहीं की जा रही है और वे अत्याचार भी नहीं करते। अन्यत्र, धर्मके शासनसे प्रणयको शासित करना ही प्यारके अत्याचारको रोकनेका एक मात्र उपाय है। वह धर्म क्या है?

धर्मकी चाहे जो कोई जैसी व्याख्या करे, धर्म एक है। केवल दो मूल-सूत्रोंमें मनुष्य मात्रके नीतिशास्त्रका निचोड़ कहा जा सकता है। उनमें एक आत्मसम्बन्धीय और दूसरा पर-सम्बन्धीय है। जो आत्मसम्बन्धीय है वह आत्मसंस्कारनीतिका मूल कहा जा सकता है। अपने चित्तकी स्फूर्ति और

निर्मलताकी रक्षा ही उसका उद्देश्य है। दूसरा सूत्र पर-सम्बन्धीय होनेके कारण यथार्थ धर्मनीतिका मूल कहा जा सकता है। १—दूसरेका अनिष्ट न करना, २—यथाशक्ति दूसरेकी भलाई करना, यह महती उक्ति जगत् भरके धर्मशास्त्रोंका एकमात्र मूल और एकमात्र फल है। अन्य कोई भी नीतिसे सम्बन्ध रखनेवाली उक्ति कहिए, उसका आदि और अन्त इसीमें लीन हो जायगा। आत्मसंस्कार नीतिके सब तत्त्वोंके साथ इस महानीति-तत्त्वका ऐक्य है। और, परहित-नीति और आत्मसंस्कार-नीति एक ही तत्त्वकी भिन्न भिन्न व्याख्या मात्र हैं। परोपकारमें प्रवृत्ति और पराये अहितसे निवृत्ति, यही समग्र नीतिशास्त्रके उपदेशोंका सारांश है।

अतएव इसी धर्मनीतिके मूलसूत्रका अवलंबन करनेसे ही प्यारका अत्याचार निवृत्त हो सकता है। जब स्नेह करनेवाला आदमी स्नेहपात्रके किसी काममें हस्तक्षेप करनेको उद्यत होता है, तब उसे अपने मनमें यह दृढ़ संकल्प कर लेना चाहिए कि मैं केवल अपने सुखके लिए उसमें हस्तक्षेप नहीं करूँगा। अपना समझकर जिस पर स्नेह रखता हूँ उसका किसी प्रकारका अनिष्ट नहीं करूँगा। जितना कष्ट सहना पड़े, मैं सहूँगा, तथापि स्नेहपात्रको किसी अनिष्टकार्यमें प्रवृत्त न करूँगा।

यह बात सुननेमें बहुत छोटी और साधारण है और पुरानी जनश्रुतिकी पुनरुक्ति जान पड़ सकती है, किन्तु समय पर इसके अनुसार चलना उतना सहज नहीं है। उदाहरणके तौर पर दशरथकृत रामनिर्वासनकी बातको ही ले लीजिए। इसीके द्वारा इस सामान्य नियमके प्रयोगकी कठिनता बहुतोंकी समझमें आ जायगी। यहाँ कैकेयी और दशरथ दोनों ही प्यारके अत्याचारमें प्रवृत्त हैं। कैकेयी दशरथके ऊपर और दशरथ रामके ऊपर वह प्यारका अत्याचार कर रहे हैं। इनमेंसे कैकेयीका कार्य स्वार्थपर और नीच कहकर चिर-परिचित है। कैकेयीका कार्य स्वार्थपर और नीच अवश्य है, किन्तु उसके प्रति इतनी कटूक्तियोंका प्रयोग शायद विहित नहीं कहा जासकता। कैकेयीने अपने किसी इष्टकी कामना नहीं की—अपने पुत्रकी भलाई सोची थी। यह सत्य है कि पुत्रके मंगलसे ही माताका मंगल है; किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि जो एतद्देशीय पिता-माता अपनी जाति